जीवन-ज्योति

असाम्प्रदायिक एवं विश्वमानवीय दृष्टि से जीवन-दर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ

*

अर्थद्रष्टा एव ग्रन्थकर्ता
विद्यामार्तण्ड (कां वि), विद्यारत्न
डॉ. मंगलदेव शास्त्री
(मुनि मेधातिथि)
एम ए, एम ओ एल, डी फिल् (ऑक्सफोर्ड)
पूर्व-उपकुलपति
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : ३२६
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण फरवरी १९७२
मूल्य : सोलह रुपये

जीवन-ज्योति

(जीवन-दर्शन)

डॉ मंगलदेव शास्त्री

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
एवं सुदर्शन मुद्रक, वाराणसी

धन्यवाद-प्रकाशन

२३ जनवरी १९६९ को धर्मपत्नी श्रीमती सावित्रीदेवी का, ६९ वर्ष की अवस्था में, स्वर्गवास हो गया। उन की पवित्र स्मृति में ग्रन्थकर्ता ने 'श्रीमती सावित्रीदेवी धर्मार्थ ट्रस्ट,' दिल्ली, की स्थापना की, जिस की नियमत रजिस्ट्री १५ दिसम्बर १९७० को हो चुकी है। रोगियो, विधवाओ की सहायता, छात्रो की सहायता और प्रोत्साहन जैसे उद्देश्यो के साथ उस का एक उद्देश्य हिन्दी अथवा हिन्दी और संस्कृत में धर्म और संस्कृति-विषयक पुस्तको का प्रकाशन भी है।

इसी दृष्टि से ग्रन्थकर्ता ने हिन्दी अनुवाद-सहित अपनी पुस्तक 'जीवन-ज्योति' का सर्वाधिकार और स्वामित्व उपर्युक्त धर्मार्थ ट्रस्ट के नाम समर्पित कर दिया है।

बडी प्रसन्नता है कि ट्रस्ट की अनुमति से मेरे द्वारा किये गये प्रस्ताव को, कि उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन और वितरण सुप्रसिद्ध संस्था 'भारतीय ज्ञानपीठ' के द्वारा हो, भारतीय ज्ञानपीठ के अधिकारियो ने स्वीकार कर लिया है। मैं स्वय को उन का अनुगृहीत मानता हूँ।

यहाँ मैं विशेष रूप से उन महानुभावो के प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद-प्रकाशन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन से इस ग्रन्थ के तैयार करने में और मुद्रण आदि में प्रोत्साहन और साहाय्य प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिये गये श्रद्धेय श्री काकासाहेब कालेलकर के शुभाशसन से प्रतीत होगा कि उन्होने हिन्दी अनुवाद-सहित ग्रन्थ के प्रकाशन में विशेष रुचि प्रकट की थी। वास्तव में उन्हीं की प्रेरणा से ग्रन्थ के मुद्रण आदि में निम्न-निर्दिष्ट सज्जनों से सहायता प्राप्त हुई है। इसलिए सर्वत प्रथम उन्हीं के प्रति अपनी नम्र कृतज्ञता और धन्यवाद को प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध देशभक्त, अनेक विद्या-संस्थाओं के संस्थापक तथा संचालक, पद्मभूषण श्री सीताराम सेकसरिया ने पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन में जो लगातार रुचि ली है और उस के लिए अच्छी आर्थिक सहायता भी दी है, तदर्थ मैं उन का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

श्री सेकसरिया जी की प्रेरणा से बंगाल पेपर मिल्स के डाइरेक्टर, धर्मशील श्री हनुमानप्रसाद जी धानुका ने पुस्तक की छपाई के लिए बढ़िया कागज़ देने का जो अनुग्रह किया है, उस के लिए उन के प्रति मेरा अत्यन्त धन्यवाद है।

अन्त में, पुस्तक के शुद्ध और सुन्दर ढंग से छपवाने में प्रिय मित्र आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी जी ने जो बड़ी कृपा की है, उस के लिए मैं उन का विशेष अनुगृहीत हूँ।

—मंगलदेव शास्त्री
(मुनि मेधातिथि)
१६/१२/१९७१

मंगल भवन,
२१/१ हरिनगर,
दिल्ली-७

पद्म-विभूषण आचार्य श्री काका साहेब कालेलकर का

शुभाशंसन

.. हमारे सारे अध.पात के ऐतिहासिक कारण अनेक है। किन्तु प्रजामानस में जो पुरुषार्थहीनता फैल गयी उसका मुख्य कारण तो दार्शनिक ही है। ..

इसलिए सकुचित और सदोष जीवनदृष्टि को टालने के लिए भ्रामक शास्त्र-वचनो को बाजू पर रखकर जीवन की उन्नति, राष्ट्र का उत्कर्ष और समन्वय-कारी वीरोचित संगठन की प्रेरणा देने वाले नये शास्त्र वचनो की आवश्यकता थी।

यह माङ्गल्य-वर्धक काम संस्कृत-विद्या के प्रकाण्ड पण्डित श्री मङ्गलदेव शास्त्री ने अपनी युगानुकूल किताब "जीवन-ज्योति" में किया है। इस ज्योति ने निराशा-रूपी अन्धकार को हटाकर जीवन के उत्कर्ष की साधना का उपदेश किया है।

.श्री मङ्गलदेव शास्त्री समझाते हैं कि सारी दु खमीमासा ही बदलनी चाहिए —कि "स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तो तप ही है।", "पुरुषार्थी लोगो को उन्नति के लिए दु ख की सीढी चढनी पड़ती है।", "सृष्टि-विधाता भगवान् ने सुख और दु ख दा ो सहेतुक निर्माण किये है। हमारे जीवन मे दोनो की आवश्यकता है।" जीवनमे दु ख नही होता तो पुरुषार्थ की प्रेरणा भी क्षीण हो जाती।

व्यक्ति और समाजका परस्पर सम्बन्ध समझाते हुए उन्होने "दार्शनिक व्यक्तिवाद" का सुन्दर ढंग से खडन किया है। और केवल जीव-शिव का ही नही, किन्तु व्यष्टि-समष्टि का (व्यक्ति और समाज का) सामजस्य, उन्नति,

उत्कर्ष और विश्वात्मैकत्व-भावना के लिए स्वार्थ, लोभ, सकुचितता और विलासिता का सयम करके विश्वसेवा का पुरुषार्थ करना कितना आवश्यक है, यह सब यहाँ बताया है।

जिस तरह के जीवन-दर्शन की आवश्यकता हमारे देश के लिए और दुनिया के लिए मैंने मान ली है, उसी का विस्तार इस जीवन-ज्योति मे पाकर मुझे परम सन्तोष हुआ।

शास्त्री जी ने अपनी षोडश-कलायुक्त सारी किताब संस्कृत-पद्यो में ही लिखी है। इतना ही नही, किन्तु इस कल्याणकारी युगानुकूल जीवनदर्शन की हर एक रश्मि का प्रारम्भ उन्होंने अनुकूल वैदिक वचनो से ही किया है। यह उन्होने ठीक ही किया है।...

उन्होने अपने ग्रन्थ का आजकी सास्कृतिक भाषा हिन्दी मे अनुवाद भी तैयार करके रखा है।

मैं आशा करता हूँ कि थोडे ही दिनो मे जीवन-ज्योति का यह युगानुकूल और संस्कृतिपोषक जीवन-दर्शन राष्ट्रभाषा मे सब लोगो के लिए उपलब्ध होगा। ..

ऐसी शुद्ध दार्शनिक दृष्टि की पोषक इस जीवन-ज्योति का मैं अभिनन्दन करता हूँ, स्वागत और पुरस्कार भी करता हूँ।

'सन्निधि' राजघाट,
नयी दिल्ली—१

काका कालेलकर
१।८।१९६८

प्राक्कथन

(इंग्लिश से हिन्दी में अनुवाद)

जीवन-ज्योति—नामक प्रकृत ग्रन्थ मानव-जीवन के दर्शन के संक्षिप्त प्रतिपादन के रूप मे लिखा गया है। इसकी मुख्य विशेषता है कि यह किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता की भावना से रहित है।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की रचना, सुललित संस्कृत पद्यो मे, शास्त्रीय प्रमाणो से समर्थित अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर की है। पुस्तक नर-नारायण के संवाद रूप मे लिखी गयी है। उसमे प्रत्येक रश्मि (= अध्याय) के प्रारम्भ मे प्राश्निक के रूप मे नर अपनी जिज्ञासा उपस्थित करता है और तदनन्तर उसी के अन्तरात्मा-रूपी भगवान् नारायण उसका समाधान करते हैं। पुस्तक का रचना-क्रम सावधानता-पूर्वक निर्धारित किया गया है और उसकी पद्यावली सरलता से कण्ठस्थ की जा सकती है।

ग्रन्थ में विशेष रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि विश्वव्यापी परमतत्त्व वास्तव में एक है और सर्वथा अविभाज्य है, यद्यपि आनुषङ्गिक तत्तद् उपाधियो या प्रभावो से प्रभावित तत्तद् व्यक्तियो को विभिन्न रूपो में उसकी प्रतीति हो सकती है। उदाहरणार्थ, उस परमतत्त्व का साक्षात्कार भूमा, ब्रह्म, विशुद्ध आनन्द, सामरस्य (= विरोधो की एकरसात्मक स्थिति), विश्वमाता अथवा परमा प्रकृति, पराशान्ति, समन्वय (= विरोधो में सामञ्जस्य की भावना), पूर्ण, अनन्तानन्त ऐश्वर्य अथवा परममाधुर्य—इन रूपो मे हो सकता है।

ग्रन्थ का मुख्य रूप से प्रतिपादन यही है कि परमतत्त्व का साक्षात्कार ही मानव-जीवन का प्रधान लक्ष्य है। वास्तव मे इसी जीवन मे परमतत्त्व का साक्षात्कार ही तत्त्वज्ञान का उद्देश्य होता है।

इस प्रसङ्ग मे ग्रन्थकार का कहना है कि वैचारिक जगत् में जीवन के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरुद्ध दृष्टियाँ प्रचलित है। प्रथम तो निराशावादियो की दृष्टि है, जो जीवनको अवसादमय, कोरा स्वप्नरूप, छाया के समान निःसार, अथवा भ्रान्त प्रतीति के रूप में ही देखती है (तु० "ससार: स्वप्नमात्रोऽय चला प्राणा धन तथा। सुख तत्र न पश्यामि दु ख तत्र दिने दिने ।।"), जिसका अन्त केवल आत्मत्व या आत्मचेतना के नितरा अपलाप में ही होता है (तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता। तास्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ।।")।

साथ ही दूसरी दृष्टि है, जो जीवन को, आत्मत्व के निषेध का क्षेत्र न मानकर, निरतिशय आनन्द के प्रकाश के रूप मे अथवा अनन्तानन्त शाश्वतिक स्थिति मे आत्म-स्वरूप की अनुभूति के रूप में ही देखती है।

उक्त दोनो दृष्टियो मे, जहाँ पहली केवल अभावात्मक है, वहाँ दूसरी सातिशय रूपमे भावात्मक है, जिसमे जीवन केवल आत्मानन्द का प्रकाश (= लीला) ही है। ऐसी स्थिति में जीवन मे जो शोक या दु.ख का भान होता है, उसे सत्यकी स्पष्ट प्रतीति में अहकार-प्रयुक्त अवरोध या परिसीमन के कारण ही समझना चाहिए। नैतिक दृष्टि से आत्म-विश्वास का अभाव, बुद्धि का वैपरीत्य अथवा समष्ट्यात्मक या सामाजिक मूल्यो के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत मूल्यो की समुचित व्यवस्था के निर्धारण में सहज दुर्बलता (या अकौशल) ही उक्त अवरोध (अथवा परिसीमन) का कारण होता है।

ग्रन्थकार का दृष्टिकोण सासारिक जीवन की उपेक्षा नही करता, क्योंकि उनका कहना है कि आदर्शात्मक जीवन का यह अर्थ नही है कि मनुष्य शोक-बहुल तथा कर्मपरक सासारिक जीवन का तिरस्कार कर दे या उससे मुँह मोड़

ले। साधारणतया जिसको 'वैराग्य' कहा जाता है, उसपर उस आदर्शात्मक जीवन का आधार नही है। यह एक कठोर सत्य है और वीरता-पूर्वक इसका सामना करना चाहिए।

ग्रन्थ की सोलह रश्मियो मे ग्रन्थकार उन सिद्धान्तो की व्याख्या करते है जिनके सच्चाई के साथ पालन करने से मनुष्य निश्चय रूप से जीवन मे सफलता को पा सकता है और जीवन्मुक्ति या दिव्य जीवन का भी अनुभव प्राप्त कर सकता है। उन सिद्धान्तो मे प्रमुख स्थान उस आशावादी दृष्टिकोण का है जो प्रकाश, आनन्द और रूप को जीवनका साराश समझता है।

यह ससार कार्य-कारण-भाव के नियम से नियन्त्रित है, जिसके मूल मे दैवी विधान कार्यकर हो रहा है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इस कर्म-शाला की पृष्ठ-भूमि में जो दिव्य अधिष्ठाता स्थित है, आत्यन्तिक स्वातन्त्र्य ही उसका वास्तविक स्वरूप है। ग्रन्थकार स्वय कहते हैं—

> कार्यकारणयोर्मध्यवर्तिनी येकसूत्रता।
> अन्तर्नियामिका शक्ति सैव विश्वस्य मन्यते॥
> विधान च विधाता च विधिर्वा सा निगद्यते।
> नामभेदे पदार्थस्य न स्वरूपं विभिद्यते॥
>
> (जीवनज्योति १०।३३-३४)

विश्व की पृष्ठभूमि मे विद्यमान विधान और नियन्त्रण करनेवाला परम तत्त्व (या विधाता) दोनो वास्तव में अभिन्न हैं। एक दृष्टि से जिसको हम नियन्त्रण-रूप कठोरता समझते है, वही दूसरी दृष्टि से करुणा का अनन्त-प्रवाह-रूप दीखता है। ब्रह्मचर्य, आत्म-सयम और आत्म-शुद्धि की कठोरता की चित्तके स्वस्थ विकास के लिए वैसी ही अत्यधिक उपयोगिता है, जैसी कि परोपकार-भावना की तथा करुणा के स्वच्छन्द प्रवाह की। चारित्र्य-निर्माण के लिए सत्य, धैर्य और सतोष के गुण उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह कि आत्म-समान की उदात्तता और विनय-भाव की नम्रता। सतत-जागरूकता, कर्तव्य-परायणता और कठोर आत्म-परीक्षण स्वस्थ (=निर्दोष) जीवन के

लिए वैसे ही अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, जैसे सरल भाव से युक्त श्रद्धा और निष्कपट आत्म-समर्पण। नियम-पूर्वक तत्परता से पालन किये जाने पर ये सब गुण जीवन में दृढता और सौन्दर्य दोनो का सपादन करते है।

मै समझता हूँ कि प्रकृत ग्रन्थ के विशिष्ट स्वरूप का सामान्य परिचय मैंने ऊपर दे दिया है। इस प्रकार के ग्रन्थ की विशेष उपयोगिता उन लोगो के लिए है जो सासारिक जीवन मे रहते हुए साथ ही आत्मसाक्षात्कार और आनन्द के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहते है। पर जो इस मार्ग मे आगे बढ़ चुके हैं, उनको भी इस ग्रन्थ के अध्ययन से अवश्य पर्याप्त लाभ होगा।

संसार की वर्तमान स्थिति मे मैं हृदय से चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार हो। ग्रन्थ वास्तव मे इस योग्य है।

२ (ए) सिगरा, वाराणसी
१०।८।१९६८

गोपीनाथ कविराज,
एम० ए०, डी० लिट्, महामहोपाध्याय,
पद्मविभूषण

प्रस्तावना

ग्रन्थ की पृष्ठभूमि

आज से ६८ वर्ष पूर्व, १९०३ मे, प्रकृत ग्रन्थकार ने गुरुकुल में प्रविष्ट होते हुए, उपनयन-वेदारम्भ सस्कार के अवसर पर, ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करते हुए यज्ञाग्नि के साक्ष्य मे इस मन्त्र का पाठ किया था—

"ओ यथा त्वमग्ने देवाना यज्ञस्य निधिपा असि । ओम्
एवमहं मनुष्याणा वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥"
(पारस्करगृह्यसूत्र २।४।२)

[अर्थात्, हे अग्निदेव ! जैसे तुम देवो मे यज्ञ-रूप निधि के रक्षक हो, उसी प्रकार मै मनुष्यो मे वेद-रूप निधि का रक्षक बनूँ—ऐसा आशीर्वाद मुझे दीजिए !]

तब से ही वेदाध्ययन की भावना हृदय में बद्धमूल होने लगी। यथा-विधि आर्ष-पद्धति से वेद-वेदाङ्ग के अध्ययन में मन लगाया। सौभाग्य से १९०८ से तो प्राय बराबर ही वेद और वैदिक वाङ्मय का अध्ययन, मनन और स्वाध्याय चलता रहा है। अनेक वैदिक ग्रन्थो की रचना और सपादन उसी का आनुषङ्गिक परिणाम है।

इस अनवरत वैदिक स्वाध्याय की एक ऐसी गहरी छाप मन मे बैठ गयी है कि उठते बैठते प्राय उसका ध्यान आता रहता है। उस स्वाध्याय से एक ऐसा अद्भुत प्रकाश मिला है, जिसकी परम्परा चिरकाल से प्राय विलुप्त हो गयी थी।

वेद ऐसे घरातल पर हमे ले जाते है जो मानव-मात्र के लिए अनवरुद्ध है, पर सकुचित साप्रदायिक विचारधारा की गति वहाँ नही है ।[1]

स्वभावत क्रमश यह तीव्र प्रेरणा होने लगी कि 'सर्वजनहिताय' अथवा विश्वकल्याण के लिए उस अद्भुत प्रकाश को जगत् मे फैलाया जाय। 'रश्मिमाला', 'अमृतमन्थन', 'भारतीय सस्कृति का विकास' (वैदिक धारा तथा औपनिषद धारा) इन ग्रन्थो का उद्गम उसी प्रेरणा-स्रोत से हुआ है ।

उसी प्रेरणा का कदाचित् चरम विकास पाठको को इस जीवनज्योति में मिलेगा ।

ग्रन्थ का वैशिष्ट्य

"यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः"

(अथर्वसंहिता ६।५८।३)

(अर्थात्, मैं समस्त प्राणियो का यश स्वरूप हूँ, मैं अत्यन्त यशवाला हूँ ।)

"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शतपथब्राह्मण २।५।१।१)

(अर्थात्, मनुष्य प्रजापति अथवा परमेश्वर के सबसे अधिक समीप है ।)

---

१ वेदों के विषय मे हमने अन्यत्र (तु० जीवनज्योति ११।५) लिखा है—

सत्यविद्याप्रतिष्ठा ये वेदा उक्ता सनातना ।
तेषा स्थितिर्हितायैव विश्वस्यास्य मता ध्रुवम् ॥

तथा च—

इन्द्रियार्थेष्वसक्ता ये प्राप्ता आध्यात्मिकी स्थितिम् ।
स्वार्थदृष्टिमतिक्रम्य विश्वतादात्म्यमाश्रिता: ॥ १ ॥
सत्यमेव पर ब्रह्म सत्यमेव परं तप: ।
सत्यमेव पर लक्ष्य येषा त ऋषयो मता ॥ २ ॥
त एव ऋषय: साक्षात् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
यदेतत्पावन ज्ञान दिव्यलोकादुपागतम् ॥ ३ ॥
देशकालानवच्छिन्नं वेदशब्देन सज्ञितम् ।
तदेतदमृत नूनं विश्वकल्याणसाधनम् ॥ ४ ॥

इत्यादि श्रुतियो के अनुसार मानव और मानव-जीवन की महिमा का उत्कर्ष विद्वानो से छिपा नही है ।

उसी मानव-जीवन का तात्त्विक दृष्टि से क्या स्वरूप है? क्या लक्ष्य है? उसकी प्राप्ति इसी जीवन में कैसे हो सकती है? उस प्राप्ति मे कौन-कौन से विघ्न आते है और उनका प्रतीकार कैसे हो सकता है? इत्यादि प्रतिपाद्य विषयो को लेकर ही मुख्यतया इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है ।

पर इस प्रकार के विषयो का प्रतिपादन तत्तत् साप्रदायिक ग्रन्थो मे और विभिन्न दार्शनिक निबन्धो मे भी किया गया है? इस स्थिति मे इस ग्रन्थ का उनकी अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य क्या है? यह प्रश्न उठता है। इसी प्रश्न का समाधान करने का यहाँ नीचे हम प्रयत्न करेंगे ।

जीवन में आशावाद

कहने की आवश्यकता नही है कि इधर चिरकाल से भारतीय विचारधारा मे मानव-जीवन के विषय में—

"संसार. स्वप्नमात्रोऽयं चला. प्राणा धनं तथा ।
सुखं तत्र न पश्यामि दु.खं तत्र दिने दिने ॥"

(अर्थात् यह ससार स्वप्नमात्र है। प्राण और धन-सपत्ति चलायमान हैं। वहाँ मुझे सुख नही दिखायी देता, पर दु ख प्रतिदिन देखने में आता है।),

"मरणं प्रकृति शरीरिणा विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधै ।"
(रघुवंश ८।८७)

(अर्थात्, शरीरधारियो के लिए मरण स्वाभाविक है, जीवन एक अस्वाभाविक घटना है),

'यह ससार दु खमय है, और इसीलिए हेय और असार है।',
'जीवन कारागार के सदृश केवल बन्ध-स्थान है।'[1]

---

१. तु० "भवबन्धविमुक्तये", "ससारकारागृहमोक्षमिच्छोः" (विवेक-चूडामणि ६८, २७३),

इसी प्रकार की अवसाद-जनक और निराशामय हीनदृष्टि की परम्परा रही है। इसी दृष्टि को आधार मान कर प्रायेण विभिन्न साम्प्रदायिक और दार्शनिक विचार प्रवृत्त हुए है।

उपर्युक्त विचारधारा के स्थान मे 'यह जीवन सृष्टिकर्ता परमेश्वर का महान् प्रसाद है', 'उसका उत्तरोत्तर अनन्त उत्कर्ष ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है', 'उस लक्ष्य की प्राप्ति इस जीवन मे ही की जा सकती है', मानव-जीवन के सम्बन्ध मे ऐसी आशावादिनी दृष्टि का प्रतिपादन ही इस ग्रन्थ का प्रथम वैशिष्ट्य है।

इस सम्बन्ध में ग्रन्थ के निम्न-निर्दिष्ट उद्धरण द्रष्टव्य है—

"आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः" (१।१५)

(अर्थात्, आशा सर्वोत्तम ज्योति है और निराशा घोर अन्धकार है),

"जीवनं परमोत्कृष्टं प्रसादो जगतीपतेः" (१।१८)

(अर्थात्, जीवन जगत्स्रष्टा परमेश्वर का परमोत्कृष्ट प्रसाद है),

"भूतानामुद्दिधीर्षैव सृष्टेरस्या असंशयम्।
कारणं करुणामूला स्वयम्भूपरमात्मन ॥ (१५।२८)

(अर्थात्, इसमें सन्देह नही कि स्वयम्भू परमात्मा की प्राणियो का उद्धार करने की इच्छा ही इस सृष्टि का कारण है और उस उद्दिधीर्षा के मूल मे भगवान् की करुणा ही है)[1],

"तदेतदमृतं पुण्यं पीत्वा पीत्वा रसायनम्।
इहैव जीवने विद्वान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" (१६।१५४)

(अर्थात्, जीवन के सम्बन्ध मे उक्त दृष्टि रसायन-रूप पवित्र अमृत के समान है। उसका बराबर पान करके विद्वान् इसी जीवन में ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सकता है)।

---

१. तु० "नूनं सृष्टिरशेषा करुणावरुणालयेन देवेन। कल्याणकामनाभिर्जीवाना निर्मितास्माकम् ॥" (जीवनज्योति १०।६८)

इसी प्रकार ग्रन्थ में अनेकत्र जीवन के विषय मे आशावादिनी दृष्टि को अपनाते हुए, इस विचार की ओर संकेत किया गया है कि यह ससार, कारागार के सदृश एक बन्ध-स्थान न होकर, बच्चो के सर्वतोमुख विकास के लिए जैसे विद्यालयो का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार हमारे उत्तरोत्तर विकास के लिए उत्पन्न किया गया है। इसलिए, जीवन की समस्याओ के भय से अपने कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा करके मिथ्यासन्यास की प्रवृत्ति के स्थान में, कर्तव्य की भावना से अथवा अनासक्त बुद्धि से अपने कर्तव्यो का पालन ही हमें करना चाहिए, इसी में हमारा कल्याण निहित है।

उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्त के आधार पर ही जीवन-सम्बन्धी समस्याओ का समाधान इस ग्रन्थ मे किया गया है। जैसा ऊपर कहा है, यही उसका प्रथम वैशिष्ट्य है।

दुःख-मीमांसा

उपर्युक्त मौलिक दृष्टि से सम्बद्ध ही ग्रन्थ का दु ख-विषयक विचार है। दु ख-मीमासा-नामक द्वितीय रश्मि में जिस नवीन दृष्टि-कोण से दु ख पर विस्तृत विचार किया गया है, उसको भी हम इस ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य कह सकते हैं।

'यह ससार दु खमय है, और इसीलिए हेय और असार है।', "दु.खमेव सर्वं विवेकिनः" (योगसूत्र २।१५) (अर्थात्, विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ दु.ख-रूप ही है), "बाधनालक्षणं दुःखम्। तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः." (न्यायसूत्र १।१।२१-२२) (अर्थात्, बाधना अथवा पीडा को ही दु.ख समझना चाहिए और उससे अत्यन्त छुटकारे को ही अपवर्ग या मोक्ष कहते हैं), "त्रिविधदु खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः." (साख्य-सूत्र १।१) (अर्थात्, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दु खो की अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्य का अत्यन्त पुरुषार्थ है)। दु ख के विषय में हमारी परम्परागत दृष्टि ऐसी ही रही है।

उसी दुःख के विषय में उक्त दु.ख-मीमासा के प्रसङ्ग में मुख्य रूप से जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है, वे ये हैं—

(१) सृष्टि की योजना मे दु ख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नही हो सकती,
(२) दु खो को कार्यसिद्धि मे भूमिका-मात्र ही समझना चाहिए,
(३) स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तप ही होता है,
(४) मनुष्यो की समुन्नति में दु ख सोपान-रूप ही होवे हैं,
(५) महान् पुरुष दु खो का स्वागत ही किया करते हैं।

स्पष्टतया दु ख के सम्बन्ध मे इस नवीन दृष्टि का प्रतिपादन भी ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य है।

इस सम्बन्ध में ग्रन्थ के निम्नस्थ पद्य विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

"तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दु.खावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं नेवात्र संशयः॥"

(अर्थात्, इसलिए ससार मे जिसको दु ख की अवस्था माना जाता है उसका ईश्वर की दृष्टि मे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए)

"उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
दु खाना स्वागतं कुर्वंस्तत्त्वज्ञो नावसीदति॥"

(अर्थात्, तत्त्वज्ञानी मनुष्य, जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है, दु खो का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नही प्राप्त होता)

"दु खं वै दु खरूपेण तावदेव प्रतीयते।
यावत् परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते॥"

(अर्थात्, दु ख दु ख-रूप से तभी तक प्रतीत होता है, जब तक उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है)

"दु:खं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञ. प्रसन्नेनान्तरात्मना।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशय.॥"

(अर्थात्, यदि बुद्धिमान् मनुष्य आये हुए दु ख को स्वेच्छा-पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है, तब वही दु ख उसके लिए नि सन्देह तप का रूप धारण कर लेता है)

"नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः।
आचरन्त्यात्मन शुद्धयै श्रद्धया ये मनीषिण ॥"

(अर्थात्, शास्त्रो में अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपो का विधान किया गया है। जो बुद्धिमान् हैं वे आत्म-शुद्धि के लिए उन तपो का श्रद्धा से विधिपूर्वक पालन किया करते हैं)

"तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दु खावस्थेति योच्यते।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिण ॥"

(अर्थात्, उपर्युक्त वस्तुस्थिति के कारण, लोक मे जिसको दु खावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नही होते)

(२।१३,१६,२४,२५,२६,३३)

व्यष्टि - और समष्टि-दृष्टियों का सामञ्जस्य

(इस विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ की पन्दरहवी रश्मि में किया गया है)

मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमारी परम्परागत दृष्टि व्यक्ति-परक ही रही है। जैसे—

"एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
व्यष्टेरेतादृशी दृष्टिः पारम्पर्यक्रमागता।
बन्धमोक्षप्रवादोऽपि तामाश्रित्यैव तिष्ठति ॥

(जीवनज्योति १५।७८)

(अर्थात्, प्राणी (=मनुष्य) अकेला पैदा होता है और अकेला ही मृत्यु-ग्रस्त होकर प्रलीन हो जाता है। अपने सुकृत और दुष्कृत (=पुण्य-पाप) का फल भी वह अकेला ही भोगता है। व्यक्ति के सम्बन्ध मे यही दृष्टि परम्परा से चली आ रही है। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी इसी दृष्टि पर आश्रित है।)

तत्तत् संप्रदायो और दर्शनो ने प्रायेण इसी व्यक्ति-परक दृष्टि का अवलम्बन किया है।

इस सम्बन्ध मे इस ग्रन्थ की दृष्टि बहुत कुछ उक्त दृष्टि से भिन्न है। इसके अनुसार व्यष्टि समष्टि के बिना नही रह सकती। व्यष्टि समष्टि पर आश्रित है और उसका कल्याण समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही रहता है। इस सम्बन्ध मे ग्रन्थ का प्रतिपादन इस प्रकार है—

"व्यष्टीना जीवनं तस्माद् व्यापारः स्थितिरेव च।
यथा सरसि मीनाना समष्टावाश्रितं तथा॥
समष्ट्या तेन व्यष्टीना किञ्च तासा परस्परम्।
सामञ्जस्यं समुत्कृष्टं परमं लक्ष्यमुच्यते॥
समष्ट्याः कार्यकरणे व्यष्टीनामेकतानता।
धर्मस्य वस्तुतो मूलमाहुस्तस्मान्मनीषिणः॥
तस्यामेव स्थितौ तिष्ठन्नद्वैतं स्वपरार्थयोः।
तत्त्वतो मन्यते विद्वानजिह्मेनैव चेतसा॥"

(१५।३६-३६)

(अर्थात्, इसलिए व्यष्टियो का जीवन, व्यापार और स्थिति, तालाब में मछलियो के (जीवन आदि के) समान, समष्टि मे ही आश्रित होते हैं। इस कारण से व्यष्टियो का समष्टि के साथ, तथा व्यष्टियो का परस्पर भी, समुत्कृष्ट सामञ्जस्य ही परम लक्ष्य माना जाता है। इसीलिए मनीषी लोग समष्टि के कार्य के करने में व्यष्टियो की एकतानता को वास्तव में धर्म का मूल बतलाते हैं। उसी स्थिति में स्थित हुआ विद्वान् निष्कपट भाव से स्वार्थ और परार्थ में वास्तव में अद्वैत को मानता है।)

इस प्रकार समष्टि-दृष्टि की उपेक्षा न करके व्यष्टि-दृष्टि और समष्टि-दृष्टि दोनो के पारस्परिक सामञ्जस्य का प्रतिपादन भी प्रकृत ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य है।

तत्त्वमीमांसा

(ग्रन्थ की बारहवी रश्मि का यही प्रतिपाद्य विषय है)

आध्यात्मिक क्षेत्र मे विश्वके मूलतत्त्व के स्वरूपके विषय मे भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो तथा दर्शनो में ऐकमत्य नही है, यह बात विद्वानो से छिपी नही है। इस वैमत्य से न केवल जिज्ञासुओ के मन में ही उलझन पैदा होती है, किन्तु धार्मिक जगत् मे साम्प्रदायिक संघर्ष का भी यह एक कारण है। इस सम्बन्ध में तत्त्वमीमासा प्रकरण में जो विचार उपस्थित किया गया है, उसे भी इस ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे विशेषत निम्नस्थ पद्यो को देखिए—

"यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषा लयो मतः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम्।
रुचिभेदाद्धियो भेदादथवा संप्रदायत·।
तत्त्वस्य विषये दृष्टेर्भेद. समुपजायते॥
दर्शनानि विभिन्नानि संप्रदायास्ततोऽपरे।
समुत्पन्नानि लोकेऽस्मिन् दृश्यन्ते यत्र तत्र वै॥
एकस्यैव प्रमेयस्य परिभाषान्तरं यथा।
क्रियते शास्त्रभेदेन तथा तत्त्वेऽपि दृश्यताम्॥"

(१२।१३, २०-२१, २६)

(अर्थात्,

जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनका लय होता है
और जिसके आश्रय से वे वर्तमान रहते हैं, वही नित्य अविनाशी तत्त्व है।

मूल तत्त्व के विषय मे जो अनेक दृष्टियाँ पायी जाती हैं,
उनका कारण रुचिभेद, बुद्धिभेद अथवा सम्प्रदायभेद ही है ।
संसार मे जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले विभिन्न दर्शनो
और सम्प्रदायो की उत्पत्ति इन्ही कारणो से हुई है ।
एक ही पदार्थ के लिए विभिन्न शास्त्रो मे विभिन्न पारिभाषिक शब्द
नियत कर लिये जाते है ।
मूलतत्त्व के विषय मे भी ऐसा ही समझना चाहिए ।)

उक्त प्रतिपादन से, यह स्पष्ट है, न केवल सब साम्प्रदायिक संघर्ष ही समाप्त हो जाता है, किन्तु साथ ही सब साम्प्रदायिक सिद्धान्तो मे, जो आपातत परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते है, मौलिक एकता का दर्शन भी होने लगता है और इस प्रकार उनमें पारस्परिक सामजस्य का दृढ आधार मिल जाता है ।

इस प्रसङ्ग में ग्रन्थ के निम्नस्थ स्थलो को भी देखिए—

"कार्यकारणयोर्मध्यवर्त्तिनी येकसूत्रता ।
अन्तर्नियामिका शक्ति सैव विश्वस्य मन्यते ॥
विधानं च विधाता च विधिर्वा सा निगद्यते ।
नामभेदैः पदार्थस्य न स्वरूपं विभिद्यते ॥"

(१०।३३-३४)

(अर्थात्, कार्य और कारण के मध्य मे रहने वाली जो एकसूत्रता है, उसी को समस्त विश्वकी अन्तर्नियामिका शक्ति माना जाता है । उसी को 'विधान', 'विधाता' अथवा 'विधि' कहा जाता है । यह समझ लेना चाहिए कि किसी पदार्थ के अनेक नामो के कारण उसके स्वरूप मे भेद नही आता है ।)

"सत्याना परमं सत्यं मूलतत्त्वं निगद्यते ।
शक्तिर्माता शिवो विष्णु सत्यमोकार एव वा ॥
धम्मो कर्मेश्वरो ब्रह्मेत्यादिशब्दै कथंचन ।
शब्दसृष्टिमतिक्रान्तं यदाहुः शब्दकोविदाः ॥

(१६।१६६-१६७)

(अर्थात्, मूलतत्त्व को सन्तों का परम सत्य कहा जाता है। शब्दसृष्टि को अतिक्रान्त करके रहने वाले उसी मूलतत्त्व को तात्त्विक विद्वान् शक्ति, माता, शिव, विष्णु, सत्य, ओंकार, धम्म, कर्म, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि शब्दों द्वारा किसी प्रकार कहते हैं।)

परम-लक्ष्य-विषयक मौलिक एकता

मूलतत्त्व के समान ही, जीवन के परम लक्ष्य के सम्बन्ध में भी नाना संकीर्ण दृष्टियां प्रचलित हैं। उनको लेकर भी तत्तत् विचारों में जो परस्पर विरोध फैला हुआ है, उससे कौन परिचित नहीं है। उनके विषय में भी तात्त्विक दृष्टि से अविरोध का प्रतिपादन इस ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य है।

इस सम्बन्ध में, उदाहरणार्थ, निम्नस्थ प्रतिपादन को देखिए—

"भूमा ब्रह्म परा शान्ति साम्यावस्थैकतानता।
सामरस्य परानन्दः सर्वेऽनर्थान्तरा इमे॥"

(१६।१३)

(अर्थात्, भूमन्, ब्रह्मन्, परा शान्ति, साम्यावस्था, एकतानता, सामरस्य और परानन्द ये सब शब्द समानार्थक है, अर्थात् ये सब शब्द एक ही तत्त्व के द्योतक हैं।

इसी प्रकार आपाततः प्रतीयमान सब विरोध-स्थलो मे, यदि हम तात्त्विक दृष्टि से प्रचलित रूढ शब्दो के अन्तरभिप्राय को बुद्धि द्वारा पकड़ने का यत्न करें तो, उनमें रहने वाला मौलिक अविरोध तुरन्त दृष्टिगत होने लगता है। इस प्रकार की तात्त्विक बुद्धि के उदय होने पर, सूर्य के उदय होने पर अन्धकार के समान, उपर्युक्त सब विरोध स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी प्रकृत ग्रन्थ का परम वैशिष्ट्य है।

चारित्र्य-संपत्ति

जीवन-यात्रा में और विशेषतः अध्यात्म-मार्ग मे नैतिक दृष्टि और चारित्र्य-संपत्ति का अत्यन्त महत्त्व है। विभिन्न धार्मिक सप्रदायो मे और विभिन्न समाजो

में परस्पर सामनस्य और वास्तविक सद्भावना की दृष्टि के परिपोषण के लिए यही एक ऐसा सार्वभौम उपाय है, जिसका जाति, देश, काल और धार्मिक अथवा सामाजिक परम्पराओ के आधार पर कोई सकोच अथवा अपवाद नहीं होता।[1]

नैतिक दृष्टि का प्रतिपादन अनेक ग्रथो में स्वर्ग आदि की प्राप्ति के प्रलोभन के आधार पर किया जाता है। यही प्राय. कहा जाता है कि मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए अथवा दान देना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से पुण्य होगा और उससे परलोक मे सुख प्राप्त होगा। यह प्रवृत्ति वास्तव मे नैतिक दृष्टि के मूल में कुठाराघात के समान है। उसके स्थान में केवल आत्मा की तुष्टि अथवा विकास अथवा उसकी अन्तरङ्ग मौलिक आवश्यकता के रूप मे नैतिक दृष्टि का प्रतिपादन और समर्थन करना चाहिए। सच्ची नैतिक दृष्टि और तन्मूलक चारित्र्य-सपत्ति का स्वरूप यही है।

इस विषय मे प्रकृत ग्रन्थका दृष्टिकोण बराबर यही है। इस सारे प्रतिपादन को भी ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्टय कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में, उदाहरणार्थ, चतुर्थ रश्मि की सख्या १,२,५,६,७ और ८ की रचनाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

उपसंहार

ग्रन्थ के वैशिष्ट्य को दिखाने के लिए ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसे केवल निदर्शन रूप में समझना चाहिए। वास्तव मे तो समग्र ग्रन्थ ही अनेक दृष्टियो से अपना खास वैशिष्ट्य रखता है।

सबसे बड़ी विशेषता इस ग्रन्थ की यह है कि इसकी रचना, आदि से अन्त तक, नितान्त असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से हुई है। इसकी बराबर यही दृष्टि रही

---

१. तु० "जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्"
(योगसूत्र २।३१)

है कि समस्त मानव-समाज की आध्यात्मिक तथा नैतिक पिपासा की शान्ति इसके विचारो से हो सके । इस दृष्टि से इस ग्रन्थ को यदि

विश्व-मानव-गीताञ्जलि

भी कहा जाय, तो कदाचित् अतिशयोक्ति न होगी ।

अन्य प्रासङ्गिक विचार

सोलह रश्मियाँ

ग्रन्थ मे सोलह ही रश्मियाँ क्यो रखी गयी है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वैदिक वाङ्मय में पुरुष अथवा प्रजापति को सोलह कलाओ वाला प्राय बतलाया गया है, उदाहरणार्थ देखिए —

"षोडशकल. सोम्य पुरुष." (छान्दोग्योपनिषद् ६।७।१), "स एष संवत्सरः प्रजापति. षोडशकलः" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१४) । ऐसे कथनो की कई प्रकार से व्याख्या की जा सकती है, पर उसकी यहाँ आवश्यकता नही है । तो भी इसमे सन्देह नही है कि प्राचीनकाल से पुरुष (अथवा मानव) के साथ 'षोडश' (= सोलह) सख्या का सबन्ध रहा है । उसी आधार पर यहाँ सोलह रश्मियाँ रखी गयी हैं । इसका स्थूल अर्थ यह तो है ही कि मानव के पूर्ण विकास का अध्ययन सोलह भागो में किया जा सकता है ।

श्रुति-वचनो का उद्धरण

ग्रन्थ में तत्तद् रचनाओ के प्रारम्भ मे प्रायेण श्रुति-वचन उद्धृत किये गये हैं । इससे यह न समझना चाहिए कि उन वचनो के नीचे की रचनाएँ उनकी व्याख्या-रूप हैं । वास्तव मे उन श्रुति-वचनो का उद्धरण रचनाओ के बाद का है । उनके उद्धरण का प्रयोजन यही है कि तत्तद् रचनाओ के प्रतिपाद्य अर्थ को उनका समर्थन प्राप्त हो और इस प्रकार उनके प्रभाव में अतिशय आ सके ।

नर-नारायण का संवाद

ग्रन्थ कीं रचना नर-नारायण के सवाद के रूप मे हुई है । यह एक प्राचीन शैली है और इसका अनुसरण शिष्ट तथा प्रामाणिक पुरुषो ने किया है ।

प्रतिपादन मे इस शैली के अवलम्बन से स्पष्टत एक विशेष सजीवता आ जाती है। इसी कारण से उक्त शैली का अवलम्बन इस ग्रन्थ में किया गया है।

इसके अतिरिक्त, एक दूसरा गहरा कारण भी है। मनुष्य के यावज्ज्ञान का सवर्धन वास्तव मे 'नर-नारायण' के सवादरूप मे ही होता है। 'नर' और 'नारायण' दोनो सखा-रूप मे प्रत्येक मनुष्य में वास करते हैं, ऐसा श्रुति और पुराण आदि मे प्राय कहा गया है।[१] ऐसी अवस्था में 'नर' की ओर से जिज्ञासा और 'नारायण' की ओर से उसके समाधान का किया जाना स्वाभाविक ही है। इसी मौलिक सत्य के आधार पर नर-नारायण के सवाद-रूप मे ग्रन्थ की रचना हुई है।

पद्यो की भाषा में इसी सिद्धान्त को हम इस प्रकार कह सकते हैं—

नारायण. परं तत्त्वं तत्प्रकाशो नर स्मृत:।
परतत्त्वप्रसादेन तत्त्वविज्जायते नर:॥ १ ॥[२]
रहस्यं परमं ह्येतदनुभूतं महात्मभि:।
केवलं शब्दशास्त्रज्ञपण्डितानामगोचरम्॥ २ ॥
व्याख्यायते तदेवात्र विश्वकल्याणकाम्यया।
अन्त.स्थितस्य देवस्य लब्ध्वा सत्प्रेरणा मुदा॥ ३ ॥
तदेतदमृतं पुण्यं पीत्वा पीत्वा रसायनम्।
इहैव जीवने विद्वान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ४ ॥

---

१. तु० "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परि षस्वजाते" (ऋग्वेद १।१६४।२०), तथा "नरनारायणौ नित्य केवलं यत्र तिष्ठत.। भ्रातृभाव समापन्नौ परम सख्यमाश्रितौ॥" (जीवनज्योति ६।८८)। "व्यक्तित्व परतत्त्व च सख्यभावेन तिष्ठत। मनुष्येऽस्मिन् सहैवेति श्रुतिराह वचोऽमृतम्॥" (जीवनज्योति १०।६२)।

२. देखिए—"तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु: प्रसादात्" (कठोपनिषद् १।२।२०)।

अर्थात्—

परतत्त्व अथवा मूलतत्त्व को नारायण कहा जाता है उसी का प्रकाश नर है।

परतत्त्व के प्रसाद से नर तत्त्वविद् हो जाता है ॥

यह परम रहस्य है, महात्माओं द्वारा इसका अनुभव किया गया है।

केवल शब्दात्मक शास्त्रों के ज्ञाता पण्डित लोग इस रहस्य को नहीं समझते ॥

अन्तःस्थित परमदेव की सत्प्रेरणा को पाकर, विश्वकल्याण की कामना से,

उसी रहस्य की व्याख्या यहाँ हृदयोल्लास के साथ की गयी है ॥

इस अमृत-रूप पवित्र रसायन का बारबार पान करके,

इसी जीवन में विद्वान् ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सकता है ॥

अन्त में हम केवल इतना और जोड़ना चाहते हैं—

आशावादेन संपन्नजीवनेन निरन्तरम्।
प्रेमकारुण्ययोर्वार्ध्नि विश्वासेन परात्मनि ॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षलब्धये विश्वमानुषम्।
प्रेरयज्जीवनज्योतिश्चिरं लोके प्रकाशताम् ॥

अर्थात्,

निरन्तर आशावाद से सम्पन्न जीवन तथा

प्रेम और करुणा के निधान परमात्मा में विश्वास के साथ

उत्तरोत्तर उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए मानवमात्र को

प्रेरणा देती हुई यह जीवन-ज्योति

चिरकाल तक लोक में प्रकाशित हो !!!

वैदिक-स्वाध्याय मन्दिर,
ज्योतिराश्रम,
शक्तिनगर, देहली—७
श्रावणी २०२८
(६ अगस्त १९७१)

मङ्गलदेव शास्त्री
(मुनि मेधातिथि)

विषय-सूची

प्रथमो रश्मिः

जीवन-संगीतकम्

जीवेम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
भवेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ॥

(अथर्ववेद १९।६७।२,४,६,८)

●

प्रथम रश्मि

जीवन-संगीतक

हम सौ वर्ष तक जीवित रहे,
हम सौ वर्ष तक क्रमश. उत्कर्ष को प्राप्त करते रहे,
हम सौ वर्ष तक जीवन के आनन्द का अनुभव करें;
एवं सौ वर्षों के अनन्तर भी अनेक वर्षों तक !

(अथर्ववेद १९।६७।२,४,६,८)

जीवन - ज्योतिः

दिव्यं यत्परमं धाम
ज्योतीरूपं सनातनम् ।
तन्म आविर्भवत्सद्यस्
तमो हार्दं विनाशयेत् ॥

जो दिव्य ज्योति स्वरूप सनातन परम धाम है,
वह मेरे लिए आविर्भूत होता हुआ सद्यः
मेरे हृदय के अज्ञान को विनष्ट कर दे।

ग्रन्थ का उपक्रम

प्रारम्भ के आठ पद्यो में ग्रन्थ के उपक्रम तथा प्रतिपाद्य विषय का सक्षेप मे निर्देश किया जाता है—

कदाचिन्मानुषं वृत्तं द्रष्टुकामावुपस्थितौ ।
नरनारायणौ दिव्यौ भूमण्डलमिदं महत् ॥ १ ॥
देशाद् देशान्तरे नानाधर्माणामनुवर्तिनी ।
प्रजास्तासा प्रवृत्तीश्च दृष्ट्वा विस्मयमागतौ ॥ २ ॥
परस्परं विवादेन मानवान् दुःखकातरान् ।
सामनस्येन रहितान् सौमनस्येन वा पुनः ॥ ३ ॥

निराशाराक्षसीग्रस्तानवसादेन पीडितान् ।
चारित्र्येण विहीनांश्च सत्यभावनया तथा ॥ ४ ॥

उत्तरोत्तरमुत्कर्षप्राप्तये जीवनं हि यत् ।
अपि तद् भाररूपेण मन्यमानानवज्ञया ॥ ५ ॥

दु खं दु खमिदं सर्वमिति बुद्धया विमोहितान् ।
सदादर्शप्रकाशस्याभावे मोहतमोमयान् ॥ ६ ॥

दर्शं दर्शं महाखेदमनुभूय दयान्वितौ ।
सुमेरोर्महत: शृङ्गं दिव्यशोभासमन्वितम् ॥ ७ ॥

अवाप्य जगदुद्धारचिन्तनं तौ प्रचक्रतु. ।
दिव्यसंदेशरूपेण तदेवात्र निबध्यते ॥ ८ ॥

कभी मनुष्यो के वृत्त को देखने की इच्छा से दिव्य नर और नारायण इस विशाल भूमण्डल मे उपस्थित हुए ।

देश-देशान्तर मे विभिन्न धर्मों का अनुसरण करनेवाली प्रजाओ और उनकी प्रवृत्तियो को देखकर उनको आश्चर्य हुआ ।

उन्होने देखा कि मनुष्य परस्पर के विवाद के कारण दु ख से खिन्न हैं । पारस्परिक सद्भावना तथा सौहार्द की भावनाओ से रहित है । निराशारूपी राक्षसी से ग्रस्त और अवसाद से पीडित हैं । चारित्र्य और सत्य की भावना से हीन है । इस मनुष्य-जीवन के भी, जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए मिला है, महत्त्व को न समझते हुए, उसको केवल भार-रूप ही मान रहे हैं । 'यह ससार केवल दु खरूप है'—इस प्रकार के विचार से विमोहित हैं और मनुष्य-जीवन के वास्तविक आदर्शों के प्रकाश के अभाव मे अज्ञानान्धकार से ग्रस्त हैं ।

यह सब कुछ देखकर उनको बड़ा खेद हुआ । साथ ही उनके हृदय मे दया का भाव उत्पन्न हुआ । वे दोनो दिव्य शोभा से समन्वित महान् सुमेरु पर्वत के शिखर पर चले गये और वहाँ पहुँचकर 'जगत् का उद्धार कैसे हो सकता है ?' —इस विषय का चिन्तन करने लगे ।

दिव्य सदेश के रूपमे उसी चिन्तन का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया जाता है—

जीवन-संगीतक

नर उवाच

भगवन्! जीवनविषये येयमवज्ञा प्रवर्तते परित ।
तस्या यथापनोद. सद्य संजायते नूनम् ॥ ९ ॥
दिव्यं तं संदेश जीवनसंगीतरूपेण ।
ब्रूहि मा येन लोक. सर्व. कल्याणभाग् भवति ॥१०॥

नर ने कहा—

भगवन्! मनुष्य-जीवन के विषय मे यह जो अवज्ञा की भावना सर्वत्र फैली हुई है, उसको निश्चय रूप से जल्दी से जल्दी जिस प्रकार दूर किया जा सकता है उस दिव्य सदेश को, जीवन के सगीत के रूप मे, आप मुझे बतलाइए, जिससे सारे जगत् का कल्याण हो ।

नारायण उवाच

धन्योऽसि वत्स! येनेयं जिज्ञासाद्य तवोदिता ।
तस्या: संदेशरूपेण समाधानमिहोच्यते ॥११॥
विद्धीमं संदेशं जीवनसंगीतरूपेण ।
श्रावय लोकान् परित आशाज्योति.प्रसाराय ॥१२॥

श्रीनारायण ने कहा—

अयि वत्स! तुम धन्य हो, जो तुम्हारे मन मे आज यह जिज्ञासा उदित हुई है । जीवन-सदेश के रूप में उसका समाधान हम यहाँ करते है ।

तुम इस सदेश को जीवन के संगीत के रूप मे समझो । इस को सब ओर लोगो को सुनाओ, जिससे आशावाद की ज्योति का प्रकाश सर्वत्र फैल जाये ।

[१]

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है

"अस्माकं सन्त्वाशिष सत्या न· सन्त्वाशिष ।"

(यजुर्वेद २।१०)

अर्थात्, हम आशावादी बनें। हमारी आशाएँ सफल हो।

भारतीय विचारधारा मे इधर चिरकाल से 'ससार असार और मिथ्या है', 'जीवन दु खमय और क्षण-भगुर है' इस प्रकार की निराशावाद की भावनाओ का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति और राष्ट्र के जीवन को शक्तिहीन, उत्साहहीन और आदर्शहीन बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नही जानता ?

पर भारतीय सस्कृति की सूत्रात्मा मे आशावाद सदा से ओत-प्रोत रहा है। वैदिक वाङ्मय आशावाद को प्राण-प्रद भावनाओ से आद्योपान्त परिपूर्ण है, यह हमने प्राय चिरकाल से भुला दिया है। उसी आशावाद की महिमा का वर्णन नीचे किया जाता है —

निराशाया समं पापं मानवस्य न विद्यते।
समुत्सार्य समूलं तामाशावादपरो भव ॥१३॥

मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नही है। इसलिए तुम्हें उस पाप-रूपिणी निराशा को निर्मूल हटाकर आशावादी बनना चाहिए।

मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च ।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥१४॥

मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित हैं ।

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुति. ॥१५॥

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसीलिए "भगवन्! मुझको अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए" ऐसा श्रुति का वचन है।[1]

आस्तिक्यमात्मविश्वास. कारुण्यं सत्यनिष्ठता ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥१६॥

आस्तिकता (जीवन में आदर्श-भावना), आत्मविश्वास, कारुण्य, सत्यनिष्ठता और उत्तरोत्तर समुन्नति—ससार मे इनका सद्भाव आशावादियो मे ही हो सकता है।

निराशावादिनो मन्दा निष्ठुरा संशयालव ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मता ॥१७॥

निराशावादी लोग स्वभाव से ही मन्द (उदात्त भावनाओ से विहीन), निष्ठुर (असवेदनशील) और सशयालु होते हैं। वेद में[2] ऐसे ही लोगो को किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार मे निमग्न, तथा आत्मविस्मृति-रूप आत्महत्या करने वाला कहा गया है।

---

१. तु० "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)।

२ तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता.।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥" (यजुर्वेद ४०।३)

अर्थात्, आत्मत्व या आत्मचेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात् जीवन मे आदर्श-भावना का अभाव), न केवल व्यक्तियो के लिए, किन्तु जातियो और राष्ट्रो के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार मे गिराकर, सर्वनाश का हेतु होती है।

[२]
जीवन का रहस्य

"भद्रादधि श्रेय प्रेहि" (अथर्ववेद ७।८।१)

अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

'जीवन निःसार और मिथ्या है', 'जीवन बन्ध या कारागार के समान है और उससे छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारा परम कर्तव्य है' ऐसी अनार्य और मिथ्या भावनाओं ने हमारे जातीय जीवन को चिरकाल से अकर्मण्य और अवसाद-मय बना रखा है। इसके कारण ही, जेल के कैदी के समान, हम न केवल अपने ही, किन्तु जाति, राष्ट्र या मानव के विकास और समुत्थान से भी प्रायः उदासीन रहे हैं।

परन्तु नीचे के पद्यों में जीवन के विषय में एक दूसरी ही दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, जिसका वास्तव में वैदिक दृष्टि कहना चाहिए। उसके अनुसार जीवन मिथ्या होने के स्थान में परमात्मा का एक महान् प्रसाद है। इस अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड में अनन्त विकास और समुन्नति का साधन जीवन ही है। वास्तव में तो हमारा जीवन शाश्वत है, हमारा यह जीवन उसी शाश्वत अनन्त जीवन की प्राप्ति का एक अनिवार्य और अमूल्य साधन है। इसीलिए इसमें आस्था की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। देखिए—

जीवनं परमोत्कृष्ट प्रसादो जगतीपते।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः ॥१८॥

जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझते हैं।

जीवनस्य भयं मृत्योर्मरणान्तं च जीवितम्।
आ जन्मनः क्रमेणायुर्ह्रासो मृत्युपथानुगः ॥ १९॥
इत्येवं नैकधानर्थमूलं मिथ्यामतिर्नृणाम्।
जीवनास्थाविहीनांस्तान् विदधाति भयार्दितान् ॥२०॥

'जीवन को मृत्यु का भय है', 'मृत्यु-पर्यन्त ही जीवन है', तथा 'जन्म से ही आयु घटने लगती है और बराबर मृत्यु के पास पहुँचती जाती है'

इस प्रकार के अनेकानेक, अनर्थ के मूल, परम्परागत मिथ्या-विचार मनुष्यो को जीवन मे आस्था मे रहित और भय से व्याकुल बनाते है।[1]

निराशावादिनो मन्दा मोहावर्तेऽत्र दुस्तरे।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथावशाः ॥२१॥

प्रगति की भावना मे विहीन निराशावादी लोग मोह के दुस्तर भँवर मे पडे हुए, दलदल मे फँसी बेवस गौओ के समान, दुःख पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमभिधत्तेऽसकृच्छ्रुति.।
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"[2] "जीवा ज्योतिरशीमहि"[3] ॥२२॥

उनके प्रति अनुकम्पा के भाव से ही वेद मे "मनुष्य को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए", "हम बराबर प्रकाशमय आशामय जीवन को प्राप्त करें" इस प्रकार बार-बार कहा गया है।

कर्मैव जीवनं तस्माद्, विकासस्तस्य भास्वर।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम् ॥२३॥

इसलिए कर्म का ही नाम जीवन है। उत्तरोत्तर लोको अथवा अवस्थाओ मे उसके प्रकाशमान विकास को ही हमे अपना ध्येय समझना चाहिए।

---

१ तु० "मरण प्रकृति शरीरिणा विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधै' (रघुवश ८।८७)। तथा "ससार स्वप्नमात्रोऽय चला प्राणा धन तथा। सुख तत्र न पश्यामि दुःख तत्र दिने दिने।" अर्थात् मनुष्य के लिए मृत्यु स्वाभाविक और जीवन अस्वाभाविक है। एव, ससार स्वप्न मात्र हैं। प्राण और धन चलायमान है। संसार मे सुख के स्थान मे बराबर दुःख ही दुःख दीख पडता है। तु० "मरणान्त च जीवितम्" (दिव्यावदान मे पूर्णावदान)।

२ दे० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समा" (यजुर्वेद ४०।२)।

३ दे० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्वेद ७।३२।२६)।

उत्तरोत्तरमुन्नत्यपि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ॥२४॥

वास्तव में हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नतिशील और शाश्वत (सदा रहने वाला) है। उसका स्वरूप अज्ञान-रूपी अन्धकार से सर्वथा अस्पृष्ट है।

जीवन के स्वरूप को बतलाकर, जीवन-यात्रा में समुन्नतिशील व्यक्ति की भावना किस प्रकार की होनी चाहिए—इसका प्रतिपादन नीचे की रचनाओं में किया गया है—

[३]

जीवन के लिए बराबर यत्न करो

"भद्र जीवन्तो जरणामशीमहि"

(ऋग्वेद १०।३७।६)।

अर्थात्, हम कल्याणमय जीवन का अनुसरण करते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हो।

प्राप्य मानवीयजन्म पुण्यकर्मसंचयेन।
दीनदुःखिरक्षणेन संयतस्व जीवनाय। २५॥

मनुष्य-जन्म को पाकर, पवित्र, कर्मो का सचय और दीन-दुखियो की रक्षा-सेवा करते हुए, जीने का यत्न करो।

सत्यथानुवर्तनेन भव्यभावभावनेन।
लोकशंप्रसारणेन संयतस्व जीवनाय ॥२६॥

सदाचार के मार्ग पर चलते हुए, सुन्दर-समुन्नत विचारो को रखते हुए और लोक-कल्याण का प्रसार करते हुए, जीने का यत्न करो।

दैन्यभावभञ्जनेन धैर्यधर्मधारणेन।
वीरतासमाश्रयेण संयतस्व जीवनाय ॥२७॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[४]

संसार में जय किन लोगों की होती है ?

"मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः"

(ऋग्वेद १०।१२८।१)

अर्थात्, चार दिशा मेरे लिए झुक जायें। अर्थात् जीवन की प्रत्येक दिशा में सफलता और विजय प्राप्त करूँ।

"आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"

(यजुर्वेद २५।१४)

अर्थात्, हमें सब ओर से कल्याणकारी विचार प्राप्त हों।

परोपकारतत्पराः स्वदेशभक्तितत्पराः ।
अमानिनस्तथापि ये जयन्ति ते जना भुवि ॥ २९ ॥

परोपकार-परायण और अपने देश की भक्ति में तत्पर होते हुए भी जो अभिमान से रहित होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

उदात्तकर्मशालिनो न दैन्यभावधारिणः ।
तथापि सन्ति प्रश्रिता जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३० ॥

उदात्त कर्मों को करनेवाले और दीनता के भाव से दूर रहने वाले होते हुए भी जो नम्र होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

विहातुमुद्यता मुदा परार्थमात्मनो हितम् ।
विशुद्धसत्त्वशालिनो जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३१ ॥

जो विशुद्ध उदात्त चरित्र वाले व्यक्ति दूसरो के निमित्त अपने हित को प्रसन्नता-पूर्वक छोडने के लिए उद्यत रहते है, ससार मे उन्ही की जय होती है।

विसृष्टकीर्तिकामना स्वधर्मपालने रता. ।
तथाप्यहो ! यशस्विनो जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३२ ॥

अहो ! कीर्ति की कामना को छोड कर स्वधर्म के पालन में तत्पर होते हुए भी जो यशस्वी होते हैं, ससार मे उन्हीं की जय होती है ।

विरागमूर्त्तयोऽपि नित्यमार्त्तदु.खदु खिन. ।
सुखेन ये न शेरते जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३३ ॥

स्वय वैराग्य की मूर्ति होते हुए भी जो आर्त जनो के दु ख से दु खी होने के कारण कभी सुख की नीद नही सो पाते है, ससार मे उन्ही की जय होती है ।

अमायिनो दृढव्रतास्तपस्विनो जितेन्द्रिया. ।
सदाशया महाशया जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३४ ॥

जो छल-कपट से रहित, दृढव्रत, तपस्वी, जितेन्द्रिय और शुभ तथा उच्च विचारो वाले होते है, ससार में उन्ही की जय होती है ।

[५]

गन्तव्य महान् शिखर

"कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे"

(ऋग्वेद १।३३।१४)

अर्थात् भगवान् ! हमे उद्योगशील जीवन के लिए समुन्नत कीजिए ।

जैसे धीरवीर मनुष्य पर्वतो के महान् शिखरो पर चढ जाते है, वैसे ही मनुष्य को अपने जीवन मे समुन्नति के शिखर तक पहुँचने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । यह सफलता महाशक्तिरूपी परमात्मा की सहायता से ही प्राप्त हो सकती है । इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यो में किया गया है—

जीवनेऽस्मिन् मनुष्येण स्वाभीष्टशिखरं महत्।
गन्तव्यं विद्यते, कृत्वा सर्वा बाधा अधस्पदम् ॥ ३५ ॥

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में—समस्त बाधाओ को पैरोतले रौंदते हुए अपने अभीष्ट आदर्श-रूपी महान् शिखर पर पहुँचना ही है—ऐसा विचार रखना चाहिए।

नीचे जीवन के स्वाभीष्ट शिखर पर पहुँचने के उपाय का वर्णन करते हैं—

येयं भगवती शक्तिर् लोकान् संव्याप्य तिष्ठति।
सिद्धिरूपेण ता नित्यमाश्रयेत् शिखरं गमी ॥ ३६ ॥

समस्त लोक-लोकान्तरो में व्याप्त होकर उनका नियन्त्रण करने वाली निश्चय ही एक महती शक्ति है। सब प्रकार की सिद्धि की वही अधिष्ठातृ-देवता है। जो अपने जीवन के अभीष्ट शिखर पर (या आदर्श तक) पहुंचना चाहता है उसे उसी भगवती शक्ति का सिद्धि के रूप मे आश्रय लेना चाहिए।

तस्या एव प्रभावेण महिम्ना च महीयते।
प्रत्यूहराक्षसान् हत्वा मानवोऽत्र न संशयः ॥ ३७ ॥

उसी भगवती महाशक्ति के प्रभाव और महिमा से मनुष्य स्वकीय अभीष्ट की सिद्धि मे बाधक विघ्न-रूपी राक्षसो का हनन करके निस्सन्देह महत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

नीचे प्रतीकात्मक शैली से उस भगवती महाशक्ति के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन करते है—

सिंहारूढा त्रिनेत्रा च धनुर्बाणधरा शुभा।
सुप्रसन्ना महाविद्या या ता देवी नमाम्यहम् ॥ ३८ ॥

मैं उस महाशक्ति देवी को प्रणाम करता हूँ जो सिंहारूढा है (अर्थात्, महाभयकर बाधाओ पर विजय प्राप्त करने वाली है), जो त्रिनेत्रा है (अर्थात्, अलौकिक दिव्य दृष्टि से युक्त है), जो धनुष् और बाण को धारण करने वाली है (अर्थात्, सर्वदा जागरूक और संनद्ध रहने वाली है), जो कल्याण करने वाली और सदा प्रसन्न रहनेवाली है (अर्थात्, धनुर्बाणधरा होने पर भी उसमें क्रूरता और क्रोध नही हैं) और जो महाविद्या है। अभिप्राय यही है कि समस्त विश्व की सचालिका महाशक्ति को इस प्रकार मूर्तरूप मे सदा

अपना सहायक समझते हुए मनुष्य को पूर्ण अध्यवसाय और विश्वास से अपने उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

जीवन का दूसरा नाम सघर्ष है। अपने आदर्शों की प्राप्ति में मनुष्य को अनेक प्रकार के, वाह्य तथा आभ्यन्तर, शत्रुओ या वाधक शक्तियो का प्रतिरोध करना पडता है। इसी दृष्टि मे उपर्युक्त सिद्धिदात्री भगवती शक्तिदेवी की प्रार्थना नीचे दी जाती है—

ऋषभं मा समानाना सपत्नाना भयङ्करम्।
हन्तारं कुरु शत्रूणा[1] देवि! दारिद्र्यनाशिनि!॥ ३९॥

सब प्रकार के दारिद्र्य या अपूर्णता को नाश करने वाली हे भगवति शक्तिदेवि! मै अपनी अपूर्णताओ को दूर करके पूर्णता की ओर बढने को उत्सुक हूँ। तुम मुझे जो मेरे समान है उनमे श्रेष्ठ, जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं उनके लिए भयकर, जो मेरे वाधक है उनके लिए विनाशकारी बनाओ। अर्थात्, अपने अभीष्ट की प्राप्ति मे सब प्रकार की वाधाओ को पैरतले कुचलते हुए मैं बराबर आगे ही बढता चलूँ।

ऊपर जिस अर्थ का प्रतिपादन किया है उसका उपसहार करते हुए कहते है—

इत्येवं देवदेवं तं सततमाश्रितो जन।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लभते ध्रुवम्॥ ४०॥

इस प्रकार देवो के देव उस परमात्मा की शरण मे रहता हुआ मनुष्य निश्चय ही जीवन मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करता है।

[६]

आत्म-विश्वास का सिद्धान्त

उक्त प्रतिपादन के साथ-साथ, यह भी समझ लेना चाहिए कि जीवन मे सब सिद्धियो की प्राप्ति के लिए आत्म-विश्वास ही परम साधन है, ऐसा भी एक पक्ष है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे किया गया है—

---

१. तु० "ऋषभ मा समानाना सपत्नाना विषासहिम्।
हन्तार शत्रूणा कृधि विराज गोपति गवाम्॥ (ऋग्वेद १०।१६६।१)

आत्मा ही आत्मा का बन्धु है

आत्मविश्वास एवात्र सिद्धीना साधनं महत्।
अयमप्यपर. पक्ष· श्रुत्यादिषु निगद्यते ॥ ४१ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ।
इत्येवमभियुक्तैर्यो बहुधा प्रतिपाद्यते ॥ ४२ ॥
इन्द्रोऽहं न परा जिग्ये' श्रुतिरेतादृशी खलु।
अभिधत्ते तमेवार्थमधस्तात्तत्प्रपञ्च्यते ॥ ४३ ॥

इस संसार में आत्म-विश्वास ही सिद्धियों का परम साधन है—यह दूसरा पक्ष भी श्रुति आदि में कहा गया है।

'आत्मा ही आत्मा का बन्धु है', 'आत्मा ही आत्मा का रिपु है'[२] इस प्रकार उस पक्ष का प्रतिपादन मनीषियो द्वारा प्राय किया गया है।

"अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्० १०।४८।५) (अर्थात् 'मैं इन्द्र हूँ, मैं पराजित नही हो सकता') यह श्रुति भी उसी अर्थ का प्रतिपादन करती है।

नीचे इसी की विस्तार से व्याख्या की गयी है—

[७]

मैं ही इन्द्र, मैं ही विश्वकर्मा हूँ

"अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्वेद १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र (अर्थात् शक्ति का केन्द्र) हूँ, मेरा पराजय नही हो सकता।

---

१ तु० "अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्वेद १०।४८।५)
२. तु० भगवद्गीता ६।५

आत्मविश्वास ही सारी उन्नति का मूल है—यही बात नीचे की रचना में बतलायी गयी है। साथ ही, हमारी आत्मा के लिए भी 'इन्द्र' शब्द का पयोग होता है, इस विषय का प्रमाण भी नीचे दिखलाया गया है—

इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहमरातीना वधोऽस्म्यहम्।
तेषा बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि दधाम्यहम्॥ ४४॥

मैं सर्वैश्वर्यशाली इन्द्र हूँ, मैं इन्द्रकर्मा हूँ। मैं शत्रुओ का विनाशक हूँ। शत्रुओ की बाधाओ को ध्वस्त करके मैं ही उनको आक्रान्त करता हूँ।

ऐश्वर्याणि समग्राणि वर्तन्ते यानि कानिचित्।
वर्त्तेऽधिदेवता तेषा भोक्ता चापि न संशय.॥ ४५॥

जो भी ऐश्वर्य दृष्टिगोचर होते है उन सबका अधिष्ठातृ-देवता तथा भोक्ता निस्सन्देह मै ही हूँ। अर्थात्, समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति मनुष्य को ही होती है और उनका ऐश्वर्यत्व इसी मे है कि मनुष्य उनका उपभोग करता है।

इन्द्रियेष्वस्ति या शक्तिर्याश्च तेषा प्रवृत्तय ।
तासामहमधिष्ठाता स्रष्टा द्रष्टा च वस्तुत ॥ ४६॥

आभ्यन्तर जगत् की दृष्टि से भी मनुष्य के इन्द्रत्व की व्याख्या इस पद्य में की गयी है।

आँख, हस्त-पादादि इन्द्रियो मे जो शक्ति विद्यमान है, या जो भी उनकी प्रवृत्तियाँ हैं उन सबका अधिष्ठाता (नियन्त्रण करने वाला), स्रष्टा (=जनक या उद्गम) तथा द्रष्टा (=उपभोक्ता) वास्तव मे मैं ही हूँ (अथवा मेरा आत्मा ही है)।

अत एवेन्द्रशब्देन व्युत्पत्ति. क्रियते बुधै ।
इन्द्रियेत्यस्य शब्दस्य शब्दशास्त्रविशारदै.॥ ४७॥

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप मे (या आत्मा में) ही इन्द्रत्व को मानकर शब्द-शास्त्र-विशारद महामुनि पाणिनि जैसे वैयाकरणो ने 'इन्द्रिय' इस शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्द्र' शब्द से की है[1]।

---

१. तु० "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" (पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी ५।२।९३) इस सूत्र द्वारा 'इन्द्र' शब्द से ही 'इन्द्रिय' शब्द बनाया गया है। स्पष्टत यहाँ 'इन्द्र' शब्द से अभिप्राय जीवात्मा का है।

[८]

मेरे ही अन्तर्यामिन् आत्मन् !

उपर्युक्त आत्म-विश्वास के सिद्धान्त के आधार पर अपने आत्मा को ही लक्ष्य मे रखकर की गयी एक प्रार्थना नीचे दी जाती है—

अन्तर्यामिन् ! ममैवात्मन् ! सूर्यकोटिसमप्रभ !
निर्विघ्नं कुरु मे देव ! सर्वकार्येषु सर्वदा ॥ ४८ ॥[1]

करोड़ो सूर्यो की प्रभा के समान प्रभा से युक्त, हे देव-रूप अन्तर्यामिन् ! मेरे ही आत्मन् ! मेरे समस्त कार्यों मे आने वाले विघ्नो का सर्वदा वारण कीजिए ।

आध्यात्मिक पद्धति की व्याख्या

नर-नारायण के सवाद-रूप इस ग्रन्थ में प्रश्नकर्ता नर और उत्तर देने वाले श्रीनारायण है । श्रीनारायण के उत्तर मे यत्र-तत्र ऐसे प्रतिपादन मिलते हैं जो उत्तम-पुरुष मे कहे गये है और इसीलिए किसी साधक के जैसे प्रतीत होते हैं, जैसा कि ऊपर की दो रचनाओ में है । ऐसा क्यो है ? इसी शका को लेकर यहाँ समाधान किया गया है । समाधान यह है कि शास्त्रो मे कही-कही अध्यात्म-पद्धति अथवा आध्यात्मिकी वृत्ति का आश्रय लेकर भी अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है । अभिप्राय यह है कि कभी-कभी प्रथम पुरुष मे अन्य व्यक्ति द्वारा कहलायी जाने वाली बात, प्रभावातिशय के उद्देश्य से, उत्तम पुरुष मे ही कह दी जाती है । इस ग्रन्थ मे भी कही कही इस पद्धति का अवलम्बन किया गया है । इसी बात को नीचे के पद्यो में कहा गया है—

---

१. इस रचना की विशेष व्याख्या के लिए ग्रन्थकर्ता की 'रश्मिमाला' पुस्तक मे सातवी रचना की अवतरणिका को देखिए । इसी सम्बन्ध में 'विवेकचूडामणि' (३८९) को भी देखिए—"स्वय ब्रह्मा स्वयं विष्णु स्वयमिन्द्र स्वय शिव. । स्वय विश्वमिद सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन ॥"

आध्यात्मिकी समाश्रित्य वृत्तिमस्मद्युतां खलु ।
इह संगीतमुद्गीतं सर्वलोकहितावहम् ॥ ४९ ॥
अध्यात्मपद्धतिरियमस्मच्छब्देन संयुता ।
समाश्रितेह चान्यत्र भवेद् रुच्यै विशेषत ॥ ५० ॥[1]

यहाँ (अर्थात् उक्त दो रचनाओ मे) आध्यात्मिकी वृत्ति का आश्रय लेकर उत्तम पुरुष मे ('अहम्', 'मम' या 'मे' शब्दो के साथ) सबका हित करने वाले सगीत का गान किया गया है ।

'अस्मद्' शब्द से युक्त यह अध्यात्म-पद्धति, जिसका यहाँ तथा इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी आश्रय लिया गया है, विशेष रूप से पाठको के लिए रुचि-प्रद हो, ऐसा ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय है ।

गौणी वृत्ति से आत्मा में इन्द्रत्व की भावना

तदेवमभिधावृत्त्या हीन्द्र आत्मेति मन्यते ।
अधस्ताद् धर्मसामान्यात्तयो साम्यमिति स्थिति ॥ ५१ ॥

ऊपर ७ वी सख्या की रचना मे 'इन्द्र' और 'आत्मा' को अभिधा-वृत्ति से पर्यायवाची माना गया है । परन्तु नीचे की रचना में परस्पर गुणो की समानता के आधार पर इन्द्र और आत्मा में साम्य मान लिया गया है ।

[९]

ऐन्द्री शक्ति का विकास

दिवसे दिवसेऽवस्था प्रतिकूला उपस्थिता ।
सर्वस्यापि जनस्येह जायन्ते नात्र संशय ॥ ५२ ॥

---

१. यास्काचार्य के निरुक्त (७।१,२) मे परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिकी इन तीन प्रकार की ऋचायें बतलायी हैं । इन मे से आध्यात्मिकी ऋचायें वे होती है जिनमें स्वय देवता की ओर से उत्तम पुरुष (जैसे 'मैं') में कोई बात कही जाती है । जैसे ऋग्वेद (१०।१२५) में "अह राष्ट्री सगमनी वसूनाम्" (ऋग्वेद १०।१२५।३) इत्यादि मन्त्रो में स्वयं वाग्देवता 'मै' कहकर अपना वर्णन करती है ।

दृष्ट्वानिवार्यतामेता लोकस्यास्य मनस्विन ।
सर्वबाधाप्रसहने समर्था आसते सदा ॥ ५३ ॥
सैपा समर्थता नूनं सर्वथाप्यनपायिनी ।
उपाय सर्वसिद्धीना प्रथमं लक्षणं तथा ॥ ५४ ॥
अनेनैव प्रकारेण प्रत्येकं मानुषे स्वत ।
ऐन्द्रया· शक्ते समुत्पत्तिर्विकासश्चापि जायते ॥ ५५ ॥
वृत्ररूपेण मन्यन्तामन्तराया· समुन्नते ।
तेषामुन्मूलनं कर्तुमैन्द्री शक्तिरपेक्ष्यते ॥ ५६ ॥
सेयं शक्ति स्वभावेन सर्वस्यात्मनि तिष्ठति ।
आविर्भाव पुनस्तस्या अन्तरायानपेक्षते ॥ ५७ ॥
रहस्यं परमं ह्येतदाख्यानस्येन्द्रवृत्रयो· ।
जानन्ति चानुवर्त्तन्त आत्मतत्त्वविचक्षणा ॥ ५८ ॥
स्वागतं कथ्यता तस्मात्प्रतिकूला परिस्थिती ।
निमित्तीकृत्य ता यस्मादिन्द्रत्वं लभ्यते जनै ॥ ५९ ॥

इसमें सन्देह नही है कि सब किसी के सामने दिन प्रतिदिन प्रतिकूल अवस्थाएँ उपस्थित होती रहती हैं ।

मनस्वी लोग ससार की इस अनिवार्य स्थिति को देखकर सदा सब बाधाओ को सहने के लिए समर्थ रहते है ।

अपने स्वरूप को सर्वथा सुरक्षित रखनेवाली यही समर्थता निश्चय रूप से सब सिद्धियो का उपाय तथा प्रथम लक्षण दोनो है ।

इसी प्रकार से प्रत्येक मनुष्य मे ऐन्द्री शक्ति की स्वत उत्पत्ति और विकास होता है ।

उन्नति के मार्ग मे जो विघ्न उपस्थित होते हैं उनको वृत्र-रूप मे मानना चाहिए । उनका उन्मूलन करने के लिए ऐन्द्री शक्ति की अपेक्षा की जाती है ।

सो यह ऐन्द्री शक्ति स्वभावत सब की आत्मा मे रहती है । परन्तु उसका आविर्भाव अन्तरायो अर्थात् उन्नति के मार्ग मे आनेवाले विघ्नो की अपेक्षा करता है ।

इन्द्र और वृत्र के आख्यान का यही परम रहस्य है। जो आत्मतत्त्व मे विचक्षण है वे उक्त रहस्य को जानते और उसका अनुसरण भी करते हैं।

इसलिए प्रतिकूल परिस्थितियो का स्वागत करना चाहिए। क्योकि उनको निमित्त करके ही मनुष्यो द्वारा इन्द्रत्व की प्राप्ति की जाती है।

[१०]

सत्त्व-संपन्न महान् पुरुष

"अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्"

(अथर्ववेद १२।१।५४)

अर्थात्, ससार मे विरोधी शक्तियो पर विजय प्राप्त कर मैं उत्कृष्ट पद को प्राप्त करने वाला हूँ।

महतामथ क्षुद्राणामन्तराय उपस्थिते।
कृशानौ कनकस्येव परीक्षा जायते ध्रुवम् ॥ ६० ॥

अग्नि में जैसे (अच्छे बुरे या खरे खोटे) स्वर्ण की परीक्षा हो जाती है, इसी प्रकार विघ्न या बाधा के उपस्थित होने पर निश्चय ही महान् और क्षुद्र लोगो की परीक्षा हो जाती है।

वातेरिता प्रकम्पन्ते वृक्षा एव, न पर्वता'।[1]
आपत्तिसमये वृत्तं क्षुद्राणा महता तथा ॥ ६१ ॥

तेज वायु या आँधी के चलने पर वृक्ष ही काँपने लगते है, पर्वत नही। आपत्ति के आने पर क्षुद्र और महान् लोगो की ऐसी ही दशा होती है। अर्थात् आपत्ति के समय क्षुद्र लोग घबड़ा जाते हैं, पर महान् पुरुष अविचल ही रहते है।

---

१. तु० "द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि चञ्चला" (रघुवंश ८।९०)

तस्मादापत्तिकाले ये महान्तोऽन्तरवेक्षिणः।
तिष्ठन्ति निश्चला धैर्यमूर्त्तयो न विकुर्वते ॥ ६२ ॥

इसलिए आपत्ति के समय जो अन्तरवेक्षी (= विचारशील या आत्म-परीक्षक) महान् पुरुष होते हैं वे धैर्य-मूर्त्ति रूप से निश्चल ही रहते है और किसी प्रकार के विकार को नही प्राप्त होते।

यथा सोपानमारोहन् क्रमश सपरिश्रमम्।
प्रासादस्योत्तमं खण्डमासादयति मानव ॥ ६३ ॥
तथा सोपानरूपास्ताः संकटाना परम्परा.।
समाक्रम्य समुत्कृष्टं पदमाप्नोति सत्त्ववान् ॥ ६४ ॥

जैसे किसी सीढी पर परिश्रमपूर्वक चढता हुआ मनुष्य क्रमश किसी प्रासाद के सबसे ऊँचे खण्ड पर पहुँच जाता है, इसी प्रकार उत्साही धैर्यशील मनुष्य बराबर आनेवाले सकटो को सीढी के समान आक्रान्त करता हुआ अन्त में अत्युत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेता है।

॥ इति जीवनज्योतिषि जीवनसगीतक नाम प्रथमो रश्मि ॥

द्वितीयो रश्मिः

दुःख-मीमांसा

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि... ॥
(ऋग्वेद ९।११३।११)

मा भेः, मा संविक्थाः ।
(यजुर्वेद १।२३)

भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।
(सामवेद, उ० ५।२।१४)

●

द्वितीय रश्मि

दुःख - मीमासा

..हे देव ! मुझे उस स्थिति मे अमृतत्व प्रदान कीजिए जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं ! और जहाँ जीवन के अभीष्ट लक्ष्य भी प्राप्त हो ! (ऋग्वेद ९।११३।११)

न तो तुम भय का अनुभव करो, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ !
(यजुर्वेद १।२३)

परमैश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं ।
(सामवेद, उ० ५।२।१४)

दुःख-मीमांसा

नर उवाच

श्रुत्वा जीवनविषय उपदेशमलौकिकं नूनम् ।
कामप्यन्त.स्फूर्ति दिव्यामनुभवाम्यहं भगवन् ! ॥ १ ॥
परं 'जोवनमुत्कृष्ट प्रसादो जगतीपते·' ।
सत्यमेतत्तदा कस्माद् बन्धस्तदिति कथ्यते ॥ २ ॥
'दु खमेवास्ति न सुखं' 'दु खं सर्वं विवेकिन ' ।
'संसार. स्वप्नमात्रोऽयमसारस्तत्त्वदर्शिन ' ॥ ३ ॥
इत्येवं बहुधालापैर्भयमापादितोऽसकृत् ।
जीवनास्थाविहीनोऽय लोक· प्रायेण दृश्यते ॥ ४ ॥
यस्माद्भयेन सर्वेऽपि समुद्विग्ना दिवानिशम् ।
भगवंस्तस्य दु खस्य स्वरूप तत्त्वतो वद ॥ ५ ॥

नर ने कहा

हे भगवन् ! जीवन के विषय में आप के अलौकिक उपदेश को सुन कर मै किसी दिव्य अन्त स्फूर्ति का अनुभव कर रहा हूँ ।

पर यहाँ यह शका उत्पन्न होती है कि 'जीवन जगदीश्वर का उत्कृष्ट प्रसाद है' यदि यह कथन सत्य है, तो उस दशा मे 'जीवन बन्ध है' ऐसा क्यो कहा जाता है ?

'जीवन केवल दु खमय है, उसमें सुख नही है', 'विवेकी पुरुष की दृष्टि में सब कुछ दु ख-रूप ही है', 'तत्त्वदर्शी के लिए संसार स्वप्नमात्र और असार है'—

इस प्रकार के अनेकानेक कथनो से लगातार भय को प्राप्त हुआ सब कोई प्रायेण जीवन मे आस्था से विहीन दिखाई देता है ।

इसलिए हे भगवन् ! जिस दु ख के भय से सब कोई दिनरात व्याकुल हैं, उस दु ख के स्वरूप को तात्त्विक दृष्टि से आप बतलाइए ।

नारायण उवाच

स्थाने तवैष प्रश्नोऽयं लोककल्याणकारक ।
तस्माद् दु खस्य मीमासा तत्त्वतोऽत्र विधीयते ॥ ६ ॥
यस्माद् भयेन विभ्रान्ता लोका उद्विग्नमानसा ।
स्वरूपं तस्य दु खस्य किंचिदद्य परीक्ष्यते ॥ ७ ॥

श्री नारायण ने कहा

तुम्हारा यह प्रश्न बिलकुल ठीक है और ससार के कल्याण का करने वाला है । इसलिए यहाँ तात्त्विक दृष्टि से दु ख की मीमासा की जाती है ।

जिस दु ख के भय से सब लोग विभ्रान्त और व्याकुल चित्तवाले दिखाई देते है आज उस दु ख के स्वरूप की कुछ परीक्षा हम करते है ।

दुःख के स्वरूप पर विचार

सबसे पहले हम जीवन के सबन्ध मे जो वैदिक आदर्श हैं उनको दिखाना चाहते है । जैसे—

जीवेम शरद. शतम् । बुध्येम शरद शतम् ।
रोहेम शरद शतम् । पूषेम शरद. शतम् ।
भवेम शरद. शतम् । भूषेम शरद शतम् ।
भूयसी शरद शतात् । (अथर्ववेद १९।६७।२–८)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक जीवें । हम सौ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करें । हम सौ वर्ष तक समुन्नति करें । हम सौ वर्ष तक अपने को पुष्ट करें । हम सौ वर्ष तक जीवन के आनन्द का अनुभव करें । हम सौ वर्ष तक अपने जीवन मे सौन्दर्य लाने का यत्न करें । सौ ही वर्ष तक क्यो ? उससे अधिक काल के लिए भी !

"यथा न सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।" (यजुर्वेद ६।४)

अर्थात्, जिस प्रकार यह सारा जगत् हमारे लिए व्याधियो से रहित और आनन्दमय हो ।

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते ।
. . . . तत्र माममृतं कृधि ॥"
(ऋग्वेद ९।११३।११)

अर्थात्, (हे देव !) मुझे उस स्थिति मे अमृतत्व प्रदान कीजिए जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान है ।

"भद्रा इन्द्रस्य रातय." (सामवेद, उ० ५।२।१४)

अर्थात्, परमेश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं ।

"मा भे , मा संविक्था " (यजुर्वेद १।२३)

अर्थात्, न तो तुम भय-भीत होओ, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ ।

इसी प्रकार शतश वैदिक मन्त्रो मे जीवन के आदर्श और स्वरूप का वर्णन हमें मिलता है ।

तो भी यह आश्चर्य की बात है कि हमारे शास्त्र विभीषिका-रूप ऐसे विचारो से आपूर्ण है—'यह ससार दु खमय है और इसीलिए हेय और असार है', 'जीवन दु खमय है और इसीलिए कारागार (जेल) के सदृश बन्ध रूप है', 'उस दु ख की निवृत्ति, उससे छुटकारा (या मोक्ष) पाना ही हमारा परम लक्ष्य है', 'विवेकी मनुष्य को सब कुछ दु ख रूप मे ही देखना चाहिए' ।[1]

उक्त प्रकार के विषाक्त अनार्य विचारो ने जहाँ एक ओर जीवन को नीरस, मद, उत्साहहीन, नैराश्यपूर्ण और अकर्मण्य बनाने मे बडा भाग लिया है, वहाँ दूसरी ओर लाखो मनुष्यो मे, जीवन-सघर्ष से मुँह छिपाकर, प्राय अपरिपक्व दशा मे ही, सन्यास की मिथ्या-प्रवृत्ति को बराबर प्रोत्साहित किया है ।

परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे दु ख के स्वरूप के विषय मे एक नितरा नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित किया जा रहा है । दु खो से उद्विग्न मानव को उससे एक नया ही प्रकाश मिलेगा, ऐसी हमारी धारणा है ।

---

१ तु० "अथ त्रिविधदु खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ " (साख्यसूत्र १।१) । "बाधनालक्षण दु खम्", "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग " (न्यायसूत्र १।१।२१-२२) । "दु खमेव सर्वं विवेकिन " (योगसूत्र २।१५) ।

नीचे के पद्यो मे दु ख के विषय में युक्ति और उपपत्ति के साथ जो सिद्धात उपस्थित किये गये है, वे सक्षेप मे मुख्यत इस प्रकार हैं—

(१) दु ख की प्राप्ति आकस्मिक या अहेतुक नही होती।

(२) सृष्टि की योजना मे दु ख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नही हो सकती।

(३) दु ख से लगनेवाले भय के मूल मे हमारा अज्ञान ही कारण होता है।

(४) दु खो को कार्यसिद्धि की आवश्यक भूमिका समझना चाहिए।

(५) स्वेच्छा से स्वीकृत दु ख तप के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। तप से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(६) मनुष्य की समुन्नति में दु ख केवल सीढियो के समान होते है।

(७) महान् पुरुष दु ख और कष्टो का स्वागत ही करते है।

नीचे के पद्यो मे इन्ही विचारो का प्रतिपादन किया गया है—

उद्वेगजनकं दु ख सर्वेषामेव प्राणिनाम्।
सेयमापाततो बुद्धिस् तत्त्वदृष्ट्या विविच्यते॥ ८॥

इस ससार मे दु ख से सब कोई घबड़ाते हैं, दु ख को उद्वेग-जनक समझते है। दु ख के विषय में यह जो आपातत विचार है उसका यहाँ हम तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करेंगे।

न चैवाकस्मिकं दु खं न चाप्यस्त्यप्रयोजनम्।
न चैवावश्यकं, दु खं दु.खमित्येव मन्यताम्॥ ९॥

दु ख के विषय मे विचार करने पर, न तो हम उसको आकस्मिक अथवा अहेतुक कह सकते है, न निष्प्रयोजन। दु ख को दु ख के रूप मे ही अनुभव किया जाय, यह भी आवश्यक नही है।

दु ख आकस्मिक नही हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते है—

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित्।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् कथं दु खमहेतुकम्?॥ १०॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियय द्वारा सारे जगत् का सचालन कर रहें है। ऐसी स्थिति में किसी के ऊपर आनेवाला दु ख अहेतुक हैं, अर्थात् उसका कोई हेतु नही है, ऐसा कैसे हो सकता है?

दु ख निष्प्रयोजन भी नही हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं—

गर्भावस्थां समारभ्य या यावस्थानुभूयते।
प्राणिना, तद्धितायैव स्पष्टं तस्या प्रयोजनम् ॥ ११ ॥

जब से प्राणी गर्भावस्था मे आता है, उसे बराबर नई-नई दशाओ का नुभव करना पड़ता है। शास्त्रों मे उनका प्राय भयानक दु खमय अवस्थाओ रूप मे वर्णन मिलता है। उन दशाओ को हम दु खमय मानें या न मानें, तना तो स्पष्ट हैं कि उनका प्रभाव प्राणी के लिये हितकर ही होता है।

अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था के समान प्रत्येक दु खावस्था मनुष्य के हित लिए ही होती है। गर्भावस्था के अनुभव के पश्चात् ही राम, कृष्ण, बुद्ध और गाधी जैसे अवतारी पुरुष बनते है।

एवं स्थावरलोकेऽपि वृक्षादीना समुद्भवे।
नानावस्थास्तु बीजस्य जायन्ते सप्रयोजना ॥ १२ ॥

इसी प्रकार स्थावर जगत् में भी वृक्ष आदि की उत्पत्ति मे बोने के पश्चात् बीज की जो सड़ने-गलने आदि की अनेक अवस्थाएँ होती है वे सब सप्रयोजन होती हैं। बीज बोए जाने के पीछे पहले गलता है, फिर सड़ता है। तब कही वह अकुर के रूप में उगता है और अन्त मे आम, अनार, अगूर जैसे उपयोगी और सुन्दर वृक्षो के रूप मे आता है। इसी प्रकार आपातत. दु ख की अवस्थाओ को भी जानना चाहिए। दु खावस्था से हमारा अत मे हित ही होगा, यही समझना चाहिए।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दु खावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं नैवात्र संशय ॥ १३ ॥

इसलिये ससार मे जिसको दु ख की अवस्था माना जाता है उसका ईश्वर की दृष्टि मे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए।

सहेतुकत्वमित्येवं सप्रयोजनता तथा।
दु खस्यावेक्ष्य तत्त्वज्ञो न ततो विजुगुप्सते ॥ १४ ॥

इस प्रकार दु ख की सहेतुकता और सप्रयोजनता को समझकर, अर्थात् यह मन मे बैठाकर कि ईश्वर की सृष्टि मे जो कोई दु ख आता है उसका कोई कारण और प्रयोजन भी अवश्य होता है, तत्त्वज्ञानी मनुष्य दु खो से कभी नही घबड़ाता।

अन्धकारगत कश्चिद् यथाकस्माद् भयातुर ।
भवेत्तथैव दु खेभ्यो मन्दाना जायते भयम् ॥ १५ ॥

जैसे अँधेरे में खडा हुआ मनुष्य वास्तविक स्थिति को नही समझता और 'न जाने कहाँ से क्या आपत्ति आ जाय' यह सोचकर भय से व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग दु ख के कारण और प्रयोजन को न समझते हुए उससे डरते हैं।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु य ।
दु खाना स्वागतं कुर्वंस् तत्त्वज्ञो नावसीदति ॥ १६ ॥

पर तत्त्वज्ञानी मनुष्य, जो अपने जीवन मे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है, दु खो का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नही प्राप्त होता ।

यथा छात्रस्य कस्यापि तापसस्य धनार्थिन ।
कष्टाना महतामङ्गीकारो दृष्ट फलार्थिन ॥ १७ ॥

जैसे अपने-अपने अभीष्ट लक्ष्य (क्रम से विद्या, आध्यात्मिक सिद्धि और सपत्ति) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करनेवाला एक विद्यार्थी, तपस्वी या धनार्थी प्रसन्नता से बडे-बडे कष्टो को सहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढता हुआ दु खो और कष्टो को सहर्ष स्वीकार करता है ।

विधातु सर्वलोकस्याभिप्रायोऽप्येष दृश्यते ।
'कार्यसिद्धय॑ तत पूर्वं कष्टस्वीकरणं हितम्' ॥ १८ ॥

समस्त ससार की सृष्टि करनेवाले विधाता का अभिप्राय भी यही दीखता है कि कार्य की सिद्धि के लिए उससे पहले कष्ट या दु ख को उठाना हितकर होता है । दूसरे शब्दो मे, भगवान् की रची हुई इस सृष्टि में सबके लिए यह स्वाभाविक है कि अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए कष्ट या दु ख को उठाया जाय ।

अत एव सिसृक्षु' सन् लोकानेतान् प्रजापति ।
"तपोऽतप्यत", नैकत्र श्रूयते ब्राह्मणादिषु ॥ १९ ॥

इसलिए शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रथो में जहाँ-कही 'प्रजापति ने इन लोको की सृष्टि करने की इच्छा की' इस बात का प्रसग आया है वहाँ 'प्रजापति ने तप किया' ऐसा कहा गया है ।[1]

अभिप्राय यह है कि औरो की तो बात ही क्या, प्रजापति या ब्रह्मा को भी सृष्टि की रचना से पहले तप करना पड़ता है ।

स्वेच्छा से स्वीकार किये गये दु ख या कष्ट को ही तप कहते है, यह नीचे कहा गया है—

शिवस्य नीलकण्ठस्य विषपानं यदुच्यते ।
व्याख्यानमस्य तेनापि सिद्धान्तस्य विधीयते ॥ २० ॥

पुराणो में भगवान् नीलकण्ठ शिव की विष-पान की कथा प्रसिद्ध है। वास्तव में उस कथा से उक्त सिद्धान्त की ही व्याख्या की गई है। ससार में कौन स्वेच्छया विष-पान करने को तैयार होगा ? फिर भी लोक-कल्याण की इच्छा से शिव जी ने प्रसन्नतापूर्वक भयकर विष का पान किया । इसलिए अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रसन्नतापूर्वक कष्ट स्वीकार करना चाहिए ।

रामस्य तस्य भीष्मस्य बुद्धस्यापि महात्मन. ।
क्राइस्टस्य जिनस्यापि गान्धिनश्च महात्मन ॥ २१ ॥
जीवनेषु तथान्येषा लोकोत्तरयशस्विनाम् ।
स्वेच्छयैव सुखं त्यक्त्वा कष्टस्वीकरणं श्रुतम् ॥ २२ ॥

उक्त कारण से ही भगवान् राम, सुप्रसिद्ध भीष्म पितामह, महात्मा बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, भगवान् महावीर, महात्मा गाधी तथा अन्य लोकोत्तर यशवाले महापुरुषो के जीवन के सम्बन्ध मे सुना जाता है कि उन्होने महान् आदर्शो के पालन के लिए स्वेच्छा से सुखो को छोड़कर कष्टो को स्वीकार किया था ।

आपेक्षिकी मता तस्माद् भावना सुखदु खयो ।
नैकान्तिकं तयो रूपमित्येवमवधार्यताम् ॥ २३ ॥

---

१ तु० "सोऽय पुरुष प्रजापतिरकामयत । 'भूयान् स्या प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत ।' (शतपथब्राह्मण ६।१।१।८) ।

इसलिए सुख और दु ख की भावना को आपेक्षिक ही मानना चाहिए। उनमें से किसी का अपना कोई निश्चित या ऐकान्तिक रूप नही है।

दु खं वै दु खरूपेण तावदेव प्रतीयते।
यावत्परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते ॥ २४ ॥

दु ख दु खरूप से तभी तक प्रतीत होता है जबतक कि उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है।

दु खं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञ प्रसन्नेनान्तरात्मना।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशय ॥ २५ ॥

यदि बुद्धिमान् मनुष्य आये हुए दु ख को स्वेच्छा-पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है तब वही दु ख उसके लिए नि सदेह तप का रूप धारण कर लेता है।

आशय यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह सहसा आये हुए दु ख को अपनी उन्नति की प्राप्ति मे सहायक तप मानकर प्रसन्नता से सहे। इस प्रकार वह दु ख उसके लिए कल्याण का ही साधक हो सकता है।

नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानत।
आचरन्त्यात्मन शुद्धयै श्रद्धया ये मनीषिण ॥ २६ ॥

यह कौन नही जानता कि शास्त्रो मे अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपो का विधान किया गया है। जो बुद्धिमान् हैं वे आत्म-शुद्धि के लिए उन तपो का श्रद्धा से विधि-पूर्वक पालन करते है।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्विषम्।
लोकेऽत्र तपसा धीर उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ २७ ॥

तप की महिमा महान् है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। धीर पुरुष ससार में तप द्वारा ही उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

ततोऽनिवार्यदु खं यत् प्राप्तं भवति जीवने।
तप इत्येव तद्विद्याद् य इच्छेच्छ्रेय आत्मन ॥ २८ ॥

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिण ॥ ३३ ॥

सृष्टि के विषय में उपर्युक्त वस्तुस्थिति के होने से, लोक में जिसको दु खावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नही होते।

कदाचिदेतदेवात्र कारणं येन, विस्मय !
कुत्रापि वेदमन्त्रेषु दु खशब्दो न दृश्यते ॥ ३४ ॥

दु ख के विपय मे जो कुछ ऊपर कहा गया है, कदाचित् उसी कारण से, यह आश्चर्य की बात है कि, वैदिक सहिताओ के मत्रो मे कही भी 'दु ख' शब्द नही पाया जाता।

किञ्च—

"यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्"[1]।
"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद. प्रमुद आसते"[2] ॥ ३५ ॥
"मा भेस्"[3] त्वं "मा (च) संविक्था."[4] "भद्रा इन्द्रस्य रातय."[5]।
इत्यादि वेदमन्त्रेषु स्पष्टं दु खस्य भावनाम् ॥ ३६ ॥
त्यक्त्वानन्दमयं लक्ष्यं जीवनस्यावबोध्यते।
तस्माज्जीवनमुत्कृष्ट. प्रसादो जगतीपतेः ॥ ३७ ॥

(परमात्मन्! मुझे उस स्थिति मे स्थापित कीजिए) 'जहाँ सातत्य से रहनेवाली ज्योति और दिव्य सुख विद्यमान हैं।', 'जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं।'

'तुम न तो भयभीत होओ (और) न उद्विग्नता को प्राप्त होओ'। 'परमैश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं।'

इत्यादि वेदमन्त्रो मे स्पष्टतया दु ख की भावना को छोड़कर, जीवन के आनन्दमय लक्ष्य को बतलाया गया है।

इसलिए जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है।

॥ इति जीवनज्योतिषि दु खमीमासा नाम द्वितीयो रश्मि ॥

---

१ ऋग्वेद ९।११३।७। २ ऋग्वेद ९।११३।११। ३. यजुर्वेद १।२३।
४. यजुर्वेद १।२३। ५ सामवेद, उ० ५।२।१४।

तृतीयो रश्मिः

व्रत-पालनम्

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

(यजुर्वेद १६।३०)

●

तृतीय रश्मि

व्रत-पालन

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों मे श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

(यजुर्वेद १६।३०)

नारायण उवाच

प्रश्नेनातीव सन्तोषस्तवानेनानुभूयते।
मया वत्स! समाधानं तस्य त्वां वच्मि तच्छृणु ॥ ५ ॥
व्रतानां पालनं मन्ये तस्योत्कर्षस्य साधनम्।
प्रथमं, ब्रह्मचर्यं तु व्रतानां श्रेष्ठमुच्यते ॥ ६ ॥
सत्यस्याचरणं तद्वन्मनसा वचसा तथा।
उत्कर्षस्य महान् पन्था जीवनस्येति भावय ॥ ७ ॥
चारित्र्यं परमो धर्मश्चारित्र्यं परमं तपः।
चारित्र्यस्य प्रभावेण तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ८ ॥
मार्गेणैतेन गच्छन्त सन्तो धैर्यधुरन्धराः।
प्राप्नुवन्त्युत्तमांल्लोकांस्तदद्य प्रतिपाद्यते ॥ ९ ॥
तदत्र प्रथमं किञ्चिद् व्रतग्रहणवाञ्छया।
प्रवृत्तस्य मुखेनैव तन्महत्त्वमुदीर्यते ॥ १० ॥

श्री नारायण ने कहा

अयि वत्स! तुम्हारे इस प्रश्न से मुझे बड़ा सन्तोष है। उसका समाधान मैं करता हूँ, उसे तुम सुनो।

मेरे मत में व्रतो का पालन उस उत्कर्ष का मुख्य साधन है। और व्रतो में ब्रह्मचर्य सबसे श्रेष्ठ है। उसी प्रकार यह समझ लो कि मन तथा वचन से सत्य का आचरण जीवन के उत्कर्ष का बड़ा मार्ग है।

चारित्र्य परम तप है। चारित्र्य के प्रभाव से मनुष्य दुस्तर अन्धकार को पार कर सकता है।

इसी मार्ग पर चलते हुए धैर्यधुरन्धर सत्पुरुष उत्तम लोको को प्राप्त करते हैं। इसी विषय का प्रतिपादन नीचे किया गया है।

इस प्रसङ्ग मे, सबसे पहले, जो स्वय व्रत-ग्रहण करना चाहता है उसके मुख से ही व्रत-ग्रहण के महत्त्व का कुछ वर्णन किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि व्रतो के आचरण मे ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति को पहचानता है, और इसी प्रकार उसमे आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकाना मार्गदर्शकैः।
सेवितो वितत॰ पन्था एष नैवात्र संशय ॥ १३ ॥

ससार को सन्मार्ग दिखाने वाले ऋषियो और मुनियो ने वास्तव मे इसी विशद मार्ग का सेवन किया था। अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा मनुष्य ऋषि और मुनि की पदवी को भी प्राप्त कर सकता है।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम्।
व्रताना पालनेनैव देवा अमृतभोजिन ॥ १४ ॥

विश्व के विभिन्न कार्यो को निरन्तर नियमपूर्वक करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओ को व्रतो के पालने के कारण से ही अमृतभोजी (=अमृत अथवा अमृतत्व का सेवन करने वाले) कहा गया है। दूसरे शब्दो मे, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्व के सचालनार्थ अपने-अपने महान् व्रत अथवा कर्तव्य का अविचल-भाव से पालन करते है। इसी आधार पर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य को अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवन का बोध हो सकता है।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥१५॥

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों मे श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि व्रतो के पालने से ही मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

ऊपर मनुष्य के लिए व्रताचरण की महिमा का वर्णन किया है। सब व्रतो के मूल मे ब्रह्मचर्य-व्रत है। उसी का वर्णन नीचे किया जाता है—

[२]

अमृतं जीवने यत्तद् देवा नित्यमुपासते।
ब्रह्मचर्यव्रतं तस्य परमं साधनं मतम् ॥१६॥
ब्रह्मचर्यव्रतं तस्माद् व्रतानामुत्तमं व्रतम्।
व्याख्या विधीयते तेन तस्यैवात्र विशेषत ॥१७॥

जीवन में महत्त्व का सपादक जो अमृत है—जिस अमृत का सेवन देवता नित्य करते हैं—उस अमृत का परम साधन ब्रह्मचर्य-व्रत माना गया है।

इसी लिए ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतो में सर्वोत्कृष्ट है। इसी कारण से इस प्रसङ्ग मे विशेपत उसी की व्याख्या की जाती है।

ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति" (अथर्ववेद ११।५।२४)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला तेजोमय ब्रह्म को धारण करता है।

जीवनं वै महान् यज्ञस् तस्य सिद्धय मनीषिभि ।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥१८॥

जीवन एक महान् यज्ञ है। उसकी सफलता के लिए मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मनीषियो का उपदेश है।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥१९॥

जैसे किसी महल के बनाने मे नीव की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ मे ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभि ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥२०॥

तप के रूप मे ब्रह्मचर्य के व्रत को पूर्ण करने वाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवन मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते है।

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थ. सिद्धो भवति भूतले।
तस्यैवेहातिसंक्षिप्ता काचिद् व्याख्या विधीयते ॥२१॥

ससार में प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है। उसीकी कुछ अतिसक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि भूताना यत्तत्कारणमव्ययम्।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥२२॥
तदेतदुभयं नूनं ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥२३॥

सृष्टि के समस्त पदार्थों का जो अक्षय्य, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूल-कारण है उसको, तथा ज्ञानरूप वेद को भी, ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार विश्व के मूल-कारण अथवा ज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से जो व्रत ग्रहण करता है उसी को ब्रह्मचारी कहते है।

एतस्या भूमिकाया तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिण।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं जीवनं लक्ष्यमुच्यते ॥२४॥

उक्त मानसिक परिस्थिति मे वर्तमान ब्रह्मचारी के लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है।

तदर्थं स्वीयशक्तीना विकास. संचयस्तथा।
श्रमेण तपसा वृत्ति संयमेन पुरस्कृता ॥२५॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा।
आश्रमे प्रथमे नूनं कर्तव्यं ब्रह्मचारिणा ॥२६॥

उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम आश्रम (=ब्रह्मचर्याश्रम) मे ब्रह्मचारी को अपनी शक्तियो का विकास और सचय, मन वाणी और शरीर के सयम के साथ श्रम और तप का आचरण, चरित्र का निर्माण और विद्या का उपार्जन करना चाहिए।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम्।
तपसा वर्तमान स उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥२७॥

तप द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। तप का आचरण करता हुआ वह उन्नति के शिखर पर आसीन होता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेण शुद्धधीः ।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वस्येष्टे न संशय. ॥२८॥

तप से चरित्र की दुर्बलताओ को दूर कर और मनोविकास द्वारा तत्त्वावगाहिनी विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ-आश्रम मे प्रविष्ट होने पर समस्त परिस्थितियो को नि सन्देह अपने अनुकूल बनाने मे समर्थ होता है ।

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[1] ॥२९॥
"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत्"[2] ॥३०॥
इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया ।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्य चोपवर्ण्यते ॥३१॥

"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा मे समर्थ होता है । ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारी को शिक्षणार्थ चाहता है ।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओ ने मृत्यु को दूर भगा दिया है । ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवताओ को दिव्य प्रकाश लाकर दिया है ।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र अपनी उदात्त भाषा मे ब्रह्मचर्य की महिमा और रहस्य का वर्णन करते है ।

[३]

ब्रह्मचर्य की महिमा

उह्यमानस्य विवशं भावाना तीव्रधारया ।
आत्मविश्वासमाधत्ते ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३२॥

भावो की तीव्र धारा मे बेवस हो कर बहते हुए मनुष्य मे जो आत्म-विश्वास को उत्पन्न करता है उस ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।

---

१ अथर्ववेद ११।५।१७ । २ अथर्ववेद ११।५।१९ ।

शरीरं मानसं वापि स्वास्थ्यमाध्यात्मिकं तथा।
अभीष्टं चेत्तदा सर्वैर्ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३३॥

यदि शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य की इच्छा है तो सबको ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

चारित्र्यं मानवस्येह जन्मन सारमुत्तमम्।
तस्य रक्षाकृते भ्रातर् ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३४॥

मनुष्य के जीवन का चारित्र्य ही उत्तम सार है। उसकी रक्षा के लिए भाई! ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

नानाधिव्याधिखिन्नाना मर्त्यानामौषधं परम्।
निराशाया समाधानं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३५॥

ब्रह्मचर्य नाना प्रकार की आधियो और व्याधियो से खिन्न मनुष्यो की परम औषध है। वह निराशा का समाधान है। उसका पालन करना चाहिए।

जीवने यः समुत्कर्षो लोकोत्तरमहात्मनाम्।
तस्य मूलं रहस्यं च ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३६॥

लोकोत्तर महापुरुषो के जीवन मे जो समुत्कर्ष होता है उसका मूल और रहस्य ब्रह्मचर्य है। इसलिए उसका पालन करना चाहिए।

जीवने रिक्तता येयं या चोद्देश्यस्य हीनता।
क्लेशहेतुस्तदुच्छित्त्यै ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३७॥

जीवन मे क्लेश को देने वाली जो रिक्तता अथवा उद्देश्यहीनता देखी जाती है उसको दूर करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

वासनाना तमोराशौ मग्नानामन्धचेतसाम्।
प्रकाशरूपं यत्तत्त्वं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३८॥

वासनाओ के घोर अन्धकार मे डूबे हुए तथा सदसद् की विवेकबुद्धि से रहित लोगो को प्रकाश देनेवाला तत्त्व ब्रह्मचर्य ही है। उसका पालन करना चाहिए।

मृत्युग्राहेण विभ्रान्तास्त्रस्ताश्चैवानिशं तत ।
त्राणं यत्केवलं तेषा ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३९॥

मृत्युरूपी ग्राह से घबडाये हुए और सदा उससे त्रस्त लोगो की रक्षा का एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य है। उसका पालन करना चाहिए।

जीवनस्य महान् पन्था पाथेयं तस्य यन्महत् ।
तत्त्ववेदिभिरादिष्टं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥४०॥

जीवन का पथ अति लम्बा है। तत्त्ववेत्ताओ ने ब्रह्मचर्य को उसका महान् पाथेय बतलाया है। उसका पालन करना चाहिए।

[४]

ब्रह्मचारी की शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा का प्रश्न बडा गहन है। वर्तमान भारत की यह एक महती समस्या है। नीचे के पद्यो से इस समस्या के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश अवश्य मिलेगा, ऐसी हमे आशा है—

चारित्र्येण समं शिक्षा श्रमेण तपसा तथा ।
अनुशासनसंजुष्टा सा लक्ष्यं ब्रह्मचारिण ॥४१॥

चारित्र्य, श्रम और तप के साथ तथा अनुशासन से युक्त शिक्षा ही ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहने वाले का लक्ष्य होती है।

सर्वेषामपि भूताना मूर्धन्यं पदमास्थितम् ।
साधनं सर्वसिद्धीना यत्तन्मानुष्यकं मतम् ॥४२॥
आसुरी वृत्तिमुत्सृज्य दैवं भावमुपाश्रितम् ।
यया संपद्यते शिक्षा सा लक्ष्यं ब्रह्मचारिण ॥४३॥

समस्त प्राणियो में सर्वोत्कृष्ट पद में स्थित और सब सिद्धियो की एकमात्र साधन मनुष्यता, आसुरी प्रवृत्तियो को छोड कर, जिस शिक्षा द्वारा दैवी प्रवृत्तियो को धारण करती है, वही ब्रह्मचर्य-आश्रम मे रहने वाले का लक्ष्य होती है।

शिक्षा या केवलं स्वार्थ-बुद्धि पुष्णाति सर्वथा।
विषयेष्विन्द्रियारामप्रवृत्तिर्वर्धते यया ॥४४॥
ता समूलं समुत्सार्य लोककल्याणकाम्यया।
आत्मवत्तागुणोपेता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः ॥४५॥

जो शिक्षा सब तरह से केवल स्वार्थ-बुद्धि को पुष्ट करती है और जिससे विषयो मे इन्द्रियो की आसक्ति बढती है, लोक-कल्याण की कामना द्वारा उसका समूल उन्मूलन कर के आत्मसयम की भावना से युक्त शिक्षा ही ब्रह्मचारी का लक्ष्य होती है।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवनस्य यया भवेत्।
सदाचारसमृद्धेश्च सौरभं सुमनोहरम् ॥४६॥
सर्वलोकसमाकर्षि देशव्यापि यया भवेत्।
आशाप्रकाशसंयुक्ता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः ॥४७॥

जिस से जीवन का उत्तमोत्तम उत्कर्ष हो और जिससे सारे जगत् को आकृष्ट करने वाला सदाचार की समृद्धि का सुमनोहर सौरभ देशभर मे फैल जाए, जीवन मे आशावाद के प्रकाश को देनेवाली ऐसी शिक्षा ही ब्रह्मचारी का लक्ष्य होती है।

[५]

ब्रह्मचारी की ईश्वर-प्रार्थना

व्रतस्य तस्य संसिद्धौ रतस्य ब्रह्मचारिणः।
विश्वभर्तुः परेशस्य प्रार्थनात्र प्रदर्श्यते ॥४८॥

उक्त ब्रह्मचर्य-व्रत की सिद्धि मे तत्पर ब्रह्मचारी की ओर से विश्वपालक परमेश्वर की प्रार्थना नीचे की रचना मे दी जाती है—

शम्भो! परेश! मम वाचमिमा जुषस्व
संयोज्य पाणियुगलं विनयान्नतस्य।
पापं विधूय शुभमार्गरतो भवेयं
चारित्र्यरक्षणपरो व्रतमाचरेयम् ॥४९॥

हे शम्भो ! हे परेश !
दोनो हाथ जोडकर मैं विनय-पूर्वक नमस्कार करता हूँ ।
मेरी इस प्रार्थना पर कृपा-पूर्वक ध्यान दीजिए ।
मैं चाहता हूँ कि पाप को दूर करके मैं सदा शुभ मार्ग में रत रहूँ, और चारित्र्य की रक्षा करते हुए अपने व्रत का पालन करता रहूँ ।

चेदापदा नु निवह् पतितोऽमित स्यात्
चेत्कष्टजातमभितोऽभिगतं ततं स्यात् ।
प्राणप्रयाणभयमप्युदितं भवेच्चेद्
याचे तथापि मम चित्तमनाकुलं स्यात् ॥५०॥

अनन्त आपत्तियो के समूह के उपस्थित होने पर भी,
चारो ओर बराबर कष्टो से घिरे होने पर भी,
प्राणो के चले जाने के भय के आ जाने पर भी,
मै प्रार्थना करता हूँ कि मेरा चित्त व्याकुल न हो ।

ग्रावोच्चयोपचितपर्वतमस्तके वा
नानातरङ्गकुलसंकुलसागरे वा ।
व्याघ्रादिहिंस्रनिवहाकुलकानने वा-
न्यत्रापि देव ! सततं भवत स्मरेयम् ॥५१॥

पर्वत-श्रेणियो से युक्त महान् पर्वतो के शिखर पर,
अथवा असख्य तरङ्गो से व्याकुल समुद्र मे,
अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशुओ के समूह से भयङ्कर कानन मे,
तथा अन्यत्र भी हे देव ! मैं सदा आपका स्मरण रखूँ ।

तिष्ठन् व्रजंश्च भगवन्नथवा शयानो
रात्रौ दिनेऽप्युषसि सायमथान्यदा वा ।
पातालवर्त्तिकुहरे दिवि वा पृथिव्या
सर्वत्र ते स्थितिमहं कलयानि भूमन् ! ।५२॥

हे भगवन् ! हे भूमन् ! (भूमन् = ब्रह्मन्, परमात्मन्)
ठहरे हुए, चलते हुए, अथवा शयनार्थ लेटे हुए,
रात में, दिन मे, उष काल मे, सायंकाल अथवा किसी दूसरे समय,

पाताल की गुफा में, द्युलोक अथवा पृथ्वी में—
सर्वत्र मैं आप की स्थिति का अनुभव करूँ।

पापान्निवारय, विधेहि शमे मतिं मे,
सत्ये रता समधिका मयि धेहि मेधाम्।
विश्वासमात्मनि जगद्धितसाधनोत्का
निःस्वार्थबुद्धिमथ मे भगवन्! प्रयच्छ ॥५३॥

हे भगवन्!
पाप से हटाकर मेरी मति को शान्ति-प्रदान कीजिए,
सत्य मे रत तीक्ष्ण मेधा को मुझ में स्थापित कीजिए,
आत्म-विश्वास के साथ-साथ जगत् के हित-
साधन मे उत्सुक निःस्वार्थ-बुद्धि को भी मुझे दीजिए।

॥ इति जीवनज्योतिषि व्रतपालन नाम तृतीयो रश्मि ॥

चतुर्थो रश्मिः

चारित्र्य-संपत्तिः

परि माग्ने ! दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज ।

(यजुर्वेद ४।२८)

●

चतुर्थ रश्मि

चारित्र्य-संपत्ति

प्रकाश-स्वरूप परमात्मन् ! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित मे प्रतिष्ठित कीजिए ।

(यजुर्वेद ४।२८)

चारित्र्य-सम्पत्ति

नर उवाच

जीवनस्य विकासार्थं व्रतग्रहणमिष्यते ।
तत्रापि ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं विद्यते परम् ॥१॥
तदेतदमृतस्रावि भवत प्रतिपादनम् ।
सर्वेषामपि लोकाना सर्वथा हितवर्धनम् ॥२॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवनस्य य उच्यते ।
अथ तस्य स्वरूपं यद् भगवंस्तद्वक्तुमर्हसि ॥३॥

नर ने कहा

जीवन के विकास के लिए व्रत-ग्रहण की आवश्यकता है। व्रत-ग्रहण के सवन्ध में भी, ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्त्व है।

। आप का यह प्रतिपादन अमृत-स्रावी है, अर्थात् उससे मानो अमृत का स्रवण होता है। और वह सभी लोगो के हित को वढाने वाला है।

भगवन्! अव आप कृपया जीवन का जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष कहा जाता है उसके स्वरूप को बतलाइए।

नारायण उवाच

चारित्र्य एव मन्येऽहं जीवनस्य कृतार्थताम् ।
चारित्र्यममृतं पुण्यं जीवनस्यापि जीवनम् ॥४॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपासि च ।
नैव चारित्र्यहीनस्य साफल्यं यान्ति कर्हिचित् ॥५॥

उत्तरोत्तरमुत्कर्षश्चारित्र्येणैव लभ्यते ।
कारणं सर्वसिद्धीना लक्ष्यं चापि मतं हि तत् ॥६॥
तस्माच्चारित्र्यसंपत्त्यै प्रयतेत विचक्षण. ।
तस्या एवात्र संक्षेपात् काचिद् व्याख्या विधीयते ॥७॥

श्री नारायण ने कहा

मैं चारित्र्य मे ही जीवन की कृतकृत्यता मानता हूँ। चारित्र्य अमृत है, पवित्र है और जीवन का भी जीवन है ।

वेदो का स्वाध्याय, दान, अनेक प्रकार के यज्ञ, विविध नियम (=व्रत आदि) और तप—ये सब जो चारित्र्य से हीन है उसके कभी सफल नही होते ।

जीवन का उत्तरोत्तर उत्कर्ष चारित्र्य से ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह (चारित्र्य) ही सब सिद्धियो का कारण तथा लक्ष्य भी माना गया है ।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह चारित्र्य-सपत्ति के लिए प्रयत्न करे। उसी की यहाँ सक्षेप से कुछ व्याख्या की जाती है ।

[१]

चारित्र्य आत्मा का स्वास्थ्य है

जीवन मे चारित्र्य ही मनुष्य का सर्वस्व है। प्रत्येक मनुष्य की मुख्य पूंजी उसका चरित्र होता है। उसी के स्वरूप का कई दृष्टियो से प्रतिपादन नीचे के पद्यो मे किया गया है —

सुरम्यं कुसुमं दृष्ट्वा यथा सर्व प्रसीदति।
प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा तथा त्वं सुखमाप्नुया ॥८॥

सुन्दर फूल को देखकर जैसे सब-कोई प्रसन्न होते है, ऐसे ही दूसरो को प्रसन्न देख कर तुमको प्रसन्नता होनी चाहिए।

प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा यस्यान्तर्न प्रसीदति।
अप्रसन्नास्तथा दृष्ट्वा यस्यान्तर्न विषीदति ॥९॥
नूनं तस्यात्मनोऽस्वास्थ्यं कारणं तत्र विद्यते।
अस्वस्थस्य जनस्येह द्राक्षापि विरसायते ॥१०॥

दूसरो को प्रसन्न देखकर जिसका मन प्रसन्न नही होता और अप्रसन्न देख कर जिसके मन मे पीडा नही होती, निश्चय ही उसकी आत्मा की अस्वस्थता इसका कारण है। अस्वस्थ मनुष्य को दाख भी स्वाद मे बुरी लगती है।

तत सदात्मन. स्वास्थ्यकृते यत्नपरो भव।
तदर्थमात्मनो हीनभावनाया विवर्जनम् ॥११॥
तथा चैवाभिमानस्य दुरन्तस्यापसारणम्।
कर्तव्यं प्रथमं तावन्मन्यते तत्त्वदर्शिभि ॥१२॥

इस लिए आत्मा की स्वस्थता के लिए सदा प्रयत्नशील रहो। इसके लिए तत्त्वदर्शियो के मतानुसार पहला कर्तव्य यह है कि मनुष्य अपनी हीनभावना छोड़ दे और साथ ही दु ख-दायी अभिमान को भी भगादे।

अभिमानेन मूढत्वमात्मनो हीनभावना।
आत्मन स्वास्थ्यनाशस्य द्वयमेवात्र कारणम्॥१३॥

आत्मा की स्वस्थता का नाश दो ही कारणो से होता है। वे है—(१) अभिमान से होनेवाला मोह[1] और (२) अपने को हीन या तुच्छ समझना।[2]

देहस्वास्थ्यकृते लोका. सप्रयत्ना निरन्तरम्।
तन्मूलमात्मन. स्वास्थ्यमिति ते नैव जानते॥१४॥

ससार मे मनुष्य शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बरावर प्रयत्नशील रहते हैं। पर वे इस बात को नही जानते कि शारीरिक स्वास्थ्य का मूल कारण आत्मा की स्वस्थता होती है।

विकारा मानसा सर्वेऽस्वस्थ आत्मन्यसंशयम्।
आप्नुवन्ति पदं तस्मादात्मस्वास्थ्यपरो भवेत्॥१५॥

यह निश्चय है कि आत्मा के अस्वस्थ होने पर ही मन के समस्त दुर्विकार उत्पन्न हुआ करते है। इसीलिए मनुष्य को सबसे पहले आत्मा की स्वस्थता के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

चारित्र्यमात्मन स्वास्थ्यं, जीवनस्य कृतार्थता।
तत्रैव विद्यते, तस्मात्तदर्थं यत्नमाचरेत्॥१६॥

आत्मा की स्वस्थता किसको कहते है? इसका उत्तर यही है कि मनुष्य के उदात्त चरित्र को ही आत्मा की स्वस्थता समझना चाहिए। मनुष्यजीवन की सफलता उसी में रहती है। इसलिए मनुष्य को चरित्र की उदात्तता के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

---

१. तु० "पराभवस्य हैतन्मुख यदतिमान" (शतपथब्राह्मण ५।१।१।१)।
२. तु० "नात्मानमवमन्येत" (मनुस्मृति ४।१३७)। "मावमस्था स्वमात्मानम्" (मनुस्मृति ८।८४)।

[२]

चारित्र्य की महिमा

चारित्र्य के ही महत्त्व को दिखलाने का नीचे के पद्यो में यत्न किया गया है —

चारित्र्यं परमो धर्मश्चारित्र्यं परमं तपः।
चारित्र्यस्य प्रभावेण तमस्तरति दुस्तरम् ॥१७॥

चारित्र्य परम धर्म है। चारित्र्य परम तप है। चारित्र्य के प्रभाव से ही मनुष्य मोह और जडता (अकर्मण्यता) के दुस्तर अन्धकार को पार कर सकता है।

चारित्र्यं जीवनतरोः सुगन्धि कुसुमं शुभम्।
आकर्षणं तथैवात्र लोकाना रञ्जनं महत् ॥१८॥

चारित्र्य जीवन रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात्, जैसे किसी फूलने वाले पौधे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय साराश पुष्प-रूप मे विकसित होता है, इसी तरह मनुष्य-जीवन का उत्कृष्ट सुन्दर रूप या परम ध्येय उदात्त चरित्र ही है।

सुन्दर सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और सबको प्रसन्नता प्रदान करता है।

यथा हि लौकिका. स्वीयं धनं रक्षन्त्यतन्द्रिताः।
चारित्र्यस्य तथा रक्षा विधेयोत्कर्षमिच्छता ॥१९॥

इसलिए, जैसे सासारिक लोग वड़ी सावधानता से अपने धनकी रक्षा करते हैं, इसी तरह जो अपना उत्कर्ष चाहता है उसे चारित्र्य की रक्षा करनी चाहिए।

[३]

चारित्र्य की उपेक्षा

जीवन मे चारित्र्य का अत्यन्त महत्त्व होने पर भी मनुष्य उसकी उपेक्षा करते हैं। वास्तव में यह आत्मघात के समान है। इसी बात को नीचे के पद्यो में दिखलाया गया है —

शरीरमिदमस्थायि जानन्तोऽपि जना ध्रुवम् ।
तत्स्वास्थ्यस्य कृते यत्नान् विविधानाचरन्ति वै ॥२०॥
अन्त शरीरं यत्त्वेतज्जन्मजन्मान्तरेष्वपि ।
स्थास्नु तत्स्वास्थ्यसम्बन्धे विमुखा हन्त ! मानवा: ॥२१॥

मनुष्य यह जानते हैं कि यह शरीर सदा रहने वाला नही है। तो भी, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए वे तरह-तरह के यत्न किया करते हैं। पर यह खेद की बात है कि यद्यपि मनुष्य का चारित्र्यरूपी अन्त शरीर जन्म-जन्मान्तर मे स्थायी रहने वाला है, तो भी उसके स्वास्थ्य की मनुष्य परवा नही करते।

उत्पद्यन्ते शरीरेऽस्मिन्विकारा ये निरन्तरम् ।
प्रायेणोपशमं यान्ति किञ्चित्कालादनन्तरम् ॥२२॥
परमन्त.शरीरेऽस्मिन् चारित्र्याख्येऽतिरोहितम् ।
विकारा सकृदुत्पन्ना. प्रायस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥२३॥

इस शरीर मे जो रोगादि विकार बराबर होते रहते है, वे कुछ काल के अनन्तर प्रायेण शान्त हो जाते है। पर यह कौन नही जानता कि इस चारित्र्य-रूपी आभ्यन्तर शरीर में जो विकार एक बार उत्पन्न हो जाते हैं वे प्राय सदा रहते है, अर्थात्, उनको हटाना बडा कठिन होता है। इसलिए मनुष्य को चरित्र-शुद्धता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिएँ।

[४]

प्रत्येक कर्म का परीक्षण

यथा गृहस्य निर्माणमिष्टकाना शनै. शनै. ।
चयेन जायतेऽधस्तात् पतनं सहसा पुन ॥२४॥
तथा चारित्र्यसंपत्तेरर्जनं क्रियते शनै ।
स्वल्पेनापि प्रमादेनापायस्तस्या प्रसज्यते ॥२५॥
जीवनप्रगतौ तस्मात्सावधाना विपश्चित ।
प्रत्येकं कर्मणश्चिन्ता तत्त्वदृष्ट्या प्रकुर्वते ॥२६॥

नूनं जीवनयात्रा कामक्रोधादिशत्रुभिर्व्याप्ता।
मोहं तत्र न गत्वातन्द्रस्तिष्ठेन्निरन्तरं धीर ॥२७॥

जैसे एक घर का निर्माण ईंटों की धीरे-धीरे चुनाई से होता है और उसका नीचे गिर जाना सहसा हो जाता है,

इसी प्रकार चारित्र्य-सम्पत्ति का अर्जन शनै-शनै किया जाता है, परन्तु थोड़े भी प्रमाद से उसका अपाय, नाश, हो सकता है।

इसलिए बुद्धिमान् लोग जीवन की प्रगति, समुन्नति, में सावधान रहते हुए अपने प्रत्येक कर्म का चिन्तन तात्त्विक दृष्टि से करते हैं।

निश्चय ही जीवन-यात्रा काम, क्रोध आदि शत्रुओं से व्याप्त है। इसलिए धीर पुरुष को चाहिए कि वह उस यात्रा के सबन्ध में किसी प्रकार के व्यामोह में न पड़कर सर्वदा जागरूक होकर रहे।

[५]

भाव-संशुद्धि की आवश्यकता

भाव-संशुद्धि चारित्र्य का मुख्य अंग है। भावसंशुद्धि की क्यों आवश्यकता है? इसी का उत्तर नीचे के पद्यों में दिया गया है :—

गृहरूपं मनोऽस्माकं स्वच्छं शान्तं भवेद्यथा।
तत्परेण मनुष्येण प्रयत्नः क्रियतां तथा ॥२८॥

हमारा मन एक प्रकार से हमारा घर है। वह हमारा गृह-रूपी मन जैसे भी स्वच्छ और शान्त रह सके, उसके लिए हमें तत्पर होकर प्रयत्न करना चाहिए।

सोपद्रवं तथास्वच्छं दुर्गन्धेन समाचितम्।
अभद्रदर्शनं वेश्माध्युषित कः सुखं व्रजेत् ॥२९॥
भावसंशुद्धिमेतस्मात्सौमनस्यं तथैव च।
सद्विचारसमृद्धिं च समीहन्ते मनीषिणः ॥३०॥

उपद्रव या कोलाहल से युक्त, अस्वच्छ, दुर्गन्ध से भरे हुए और देखने में अभद्र या भद्दे घर में रहकर कौन सुखी हो सकता है? इसी से मनीषी लोग भाव-संशुद्धि, सौमनस्य और सद्विचारों की समृद्धि को चाहते हैं।

अभिप्राय यह है कि स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिए जैसे शान्त, स्वच्छ और सुन्दर घर की आवश्यकता होती है, उसी तरह आध्यात्मिक शान्ति और प्रसन्नता के लिए भाव-सशुद्धि आदि मानसिक गुणो की आवश्यकता है।

स एष परम स्वार्थो दोषसंस्पर्शवर्जितः।
परार्थजीवनस्यापि पात्रता तत्र जायते ॥३१॥

भावसशुद्धि आदि उपर्युक्त मानसिक गुणो की प्राप्ति ऐसा उत्कृष्ट 'स्वार्थ' है जिसके साथ दोष का सस्पर्श भी नही है। इस 'स्वार्थ'-सिद्धि के हो जाने पर ही मनुष्य में परार्थ-जीवन को पात्रता आती है।[1] अर्थात्, उक्त उदात्त गुणो से युक्त मनुष्य मे ही वास्तव में दूसरो के हित के लिए कार्य करने की योग्यता होती है।

वस्तुतस्तत्पदं पुण्यं यत्र स्वार्थपरार्थयो.।
एकत्वं जायतेऽद्वैतं तदेवाहुर्विचक्षणा ॥३२॥

वास्तव मे मनुष्य के चरित्र की वही स्थिति पवित्र और उत्कृष्ट होती है जिसमे स्वार्थ और परार्थ की एकता या अभिन्नता हो जाती है। विद्वान् लोग उसी अवस्था को 'अद्वैत' की स्थिति कहते है।

[६]

सद्विचारों का विकास

सद्विचारो को चारित्र्य का शरीर कहना चाहिए। उनका विकास कैसे हो सकता है, इसी बात को नीचे के पद्यो मे समझाने का प्रयत्न किया गया है .—

क्षेत्रे विना प्रयत्नेन वन्यतृणसमुद्भव।
भूयो भूय. कृपे पक्षे महानर्थाय जायते ॥३३॥

सब कोई जानते है कि प्रत्येक खेत मे जगली घास-पात विना प्रयत्न के ही बार-बार उगती रहती है और इससे खेती को बडी हानि होती है।

---

१. तु० "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक सतामग्रणी।" (भर्तृहरि)

कृपकस्य प्रयत्नेन सावधानस्य नित्यश:।
वारणं क्रियते तेषां कृपे रक्षा च जायते ॥३४॥

सावधान किसान बराबर प्रयत्न-पूर्वक उस जगली घास-पात को निकालता रहता है और इसी प्रकार खेती की रक्षा की जाती है।

एवं चित्ते स्वभावेन नानादुर्वासनोदय·।
जायमानो मनुष्यस्य क्लेशसन्ततिकारणम् ॥३५॥

इसी प्रकार मनुष्य के चित्त मे स्वभाव मे ही अनेकानेक दुर्वासनाएँ पैदा होती रहती है और उनके कारण उसको बराबर क्लेशो का अनुभव करना पडता है।

केवलं तत्र यत्नेन भूयोभूय. कृतेन वै।
निरोध शक्यते कर्तुं तासामुन्मूलनं तथा ॥३६॥

इस स्थिति मे केवल बार-बार किये गये यत्न से ही उन दुर्वासनाओ का निरोध और उन्मूलन किया जा सकता है।[1]

धीरैरुत्साहसंपन्नै· श्रद्धाविश्वासधारिभि ।
कर्तुं तत्पार्यते, नैव संशयाविष्टमानसैः ॥३७॥

यह कार्य (दुर्वासनाओ का निरोध और उन्मूलन) श्रद्धा और विश्वास को धारण करने वाले उत्साही धीर-वीरो द्वारा ही किया जा सकता है। जिनके मन में सशय बैठा हुआ है वे इस कार्य को नही कर सकते।

वासना या. शुभोदर्का विचारा ये च साधव ।
कुशलं तत्र रोहन्ति स्वच्छे चित्ते न संशय ॥३८॥

शुभ परिणाम को उत्पन्न करने वाली वासनाएँ और अच्छे विचार स्वच्छ चित्त में ही अच्छी तरह पनपते हैं, इसमें कोई सशय नही हो सकता।

तस्य देवस्य सवितु प्रसवाना य ईशिता।
प्रकाशप्रेरणां लब्ध्वा वस्तुतो जीवनप्रदाम् ॥३९॥

---

१. तु० "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा· पञ्च क्लेशा। ते प्रतिप्रसवहेया सूक्ष्मा। ध्यानहेयास्तद्वृत्तय।" (योगसूत्र २।३, १०, ११)।

नष्टा ये दुष्टसंस्कारास्तेपा खाद्येन नित्यश. ।
सद्विचारा प्ररोहन्ति शुभसंकल्पवारिणा ॥४०॥

समस्त सृष्टि के प्रेरक उन सवितृ-देव (सूर्य-देव) से वस्तुत जीवन को देनेवाली प्रकाश की प्रेरणा को पाकर, जो दुष्ट सस्कार वरावर नष्ट होते जाते है उनके खाद्य (= खाद) से, और शुभ सकल्पो के जल से मनुष्य के चित्त मे सद्विचार उगते और वढते है ।

अभिप्राय यह है कि अच्छी खेती के लिए जैसे सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी की आवश्यकता होती है, ऐसे ही मनुष्य के चित्त मे सद्विचारो की उत्पत्ति और पुष्टि के लिए भगवान् की प्रेरणा (या कृपा), दुष्ट संस्कारो का नाश और शुभ-सकल्प (क्रमश सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी के स्थानीय), इनकी आवश्यकता होती है ।

उच्छेद्या याश्च संरक्ष्या वासनास्तत्र संस्थिता ।
तासा विवेक. प्रथमं बुद्धिमद्भिरपेक्ष्यते ॥४१॥

इस कार्य मे सवमे पहले चित्त मे रहनेवाली उच्छेदनीय (जिनका उन्मूलन करना है) और सरक्षणीय (जिनकी रक्षा करना अपेक्षित है) वासनाओ मे परस्पर विवेक करने की आवश्यकता बुद्धिमानो को होती है ।

चित्तभूमौ प्रयत्नेन पोषितैवं निरन्तरम् ।
सद्विचारकृषि. कृष्टि. संस्कृतिर्वा मता बुधै ॥४२॥

इस प्रकार चित्तरूपी भूमि मे वरावर प्रयत्न-पूर्वक पोषित की गयी सद्विचारो की कृपि को विद्वान् लोग 'कृष्टि' अथवा 'सस्कृति' समझते है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यो के सद्विचारो की समष्टि को ही 'सस्कृति' अथवा 'कृष्टि' इन शब्दो द्वारा कहा जाता है ।

अक्षय्यममृतं पुण्यं दिव्यानन्देन संयुतम् ।
तत्फलं, तेन धनिनस्ते धन्यास्ते मनीषिणः ॥४३॥

उपर्युक्त सद्विचारो की कृषि का फल अक्षय्य, अमृत, पवित्र और दिव्य आनन्द से युक्त होता है । उस फल से जो धनी है वे धन्य हैं, वे मनीषी हैं ।

अभिप्राय यह है कि लोकप्रसिद्ध कृषि से मनुष्यो को साधारण अन्नादि का लाभ होता है, परन्तु उपर्युक्त सद्विचारो की कृषि से जो फल प्राप्त होता है वह अक्षय्य आदि गुणो से युक्त होने के कारण अन्नादि से कही वढ-चढ कर होता है ।

[७]

सत्य की सर्वत्र जय होती है

सत्य ही चारित्र्य का आत्मा है। सत्य के बिना चारित्र्य रह ही नही सकता। उसी सत्य के स्वरूप का वर्णन निम्नस्थ पद्यो में किया गया है —

सत्यं जयति सर्वत्र नैवासत्यं कदाचन।
तस्मात्सत्यपरो भूत्वा निर्द्वन्द्वो विचरेन्नर ॥४४॥

सत्य की सर्वत्र जय होती है, असत्य की कभी नही। इसलिए मनुष्य को सत्य-परायण होकर निर्द्वन्द्व (निर्भय अथवा निर्विरोध) भावना से जीवन-यात्रा करनी चाहिए।

सत्ये स्वरूपसंरक्षानपलापौ हि तिष्ठत।
तत्र स्वात्मविरोधोत्थदौर्मनस्यं न जायते ॥४५॥

सत्य मे अपने वास्तविक स्वरूप की रक्षा और अनपलाप (न छिपाना), दोनो रहते है। सत्य के रहने पर अपनी अन्तरात्मा के विरोध से उत्पन्न होने-वाली खिन्नता भी नही होती।

अतस्तत्रात्मसंतोषो मन·स्वास्थ्यमकृत्रिमम्।
सर्वैरप्यनुभूयेते निर्भयावस्थितिस्तथा ॥४६॥

इसीलिए सत्य की स्थिति में आत्मसतोष, मन की स्वाभाविक स्वस्थता और निर्भयता की अवस्था को सब अनुभव करते हैं।

सत्याधारेण तिष्ठन्ति मन स्वास्थ्योद्भवा गुणा.।
मन प्रसादः सौम्यत्वमार्जवं शान्तिरेव च ॥४७॥

मन की स्वस्थता से उत्पन्न होने वाले गुण, जैसे मन·प्रसाद, सौम्यता, आर्जव और शान्ति, ये सत्य के आधार पर ही ठहरते है।

यथा प्रकाशो लोकाना हितमातनुते सदा।
सत्यशीलास्तथा सन्त परसन्तापहारिण ॥४८॥

जैसे प्रकाश से सदा लोगो का हित होता है, इसी तरह सत्य-शील सत्पुरुष दूसरो के सन्तापों को हरनेवाले होते है।

[८]

सत्य और चारित्र्य

चारित्र्य की दृष्टि से ही सत्य का वर्णन नीचे के पद्यो मे भी किया गया है।

स्वरूपे संस्थितिः सत्यमसत्ये तद्विरुद्धता।
मृत्युरूपं ततोऽसत्यं सत्येऽमृतनिधि. स्थित[1] ॥४९॥

अपने स्वरूप मे रहना ही सत्य है। असत्य में यह बात नही होती। इसीलिए असत्य मृत्यु के समान है और सत्य मे अमृत की निधि रहती है।[2]

सत्येन हि सहायेन ततो देवा निरन्तरम्।
ऋतज्ञा अमृता विश्वभारं बिभ्रत्यतन्द्रिता. ॥५०॥

इसलिए सत्य की सहायता से अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवतागण ऋतज्ञ[3] (=प्रकृति के अटल नियमो के अनुवर्ती) और अमृत[3] (=अमरणशील) कहे जाते हैं और अतन्द्रित होकर (=तत्परता से) निरन्तर विश्व के भार को वहन करते हैं।

सत्यरक्षाकृते तस्मात् सन्त. प्राणपणैरपि।
तत्परा नियतं लोके दृश्यन्ते देवसन्निभाः ॥५१॥

इसीलिए ससार मे देवताओ के साथ समानता रखनेवाले सत्पुरुष भी प्राणपण से सत्य की रक्षा मे सदा तत्पर दिखायी देते है।

सत्यस्य हि प्रतिष्ठाया चारित्र्यं स्थितिमश्नुते।
सर्वे धर्मा क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते ॥५२॥

सत्य के रहने पर ही चारित्र्य की स्थिति हो सकती है। सत्य के न रहने पर सब धर्म नष्ट हो जाते हैं।

---

१ तु० "सत्ये ह्यमृतमाहितम्" (महाभारत, उद्योगपर्व ४३।३७)।

२ इसीलिये "असतो मा सद् गमय" और "मृत्योर्मामृत गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८) ये दोनो श्रुतियाँ वास्तव मे समानार्थक हैं।

३. तु० "देवा · · अमृता ऋतज्ञा" (ऋग्वेद १०।६५।१४)।

सत्याश्रयेण लोकस्य व्यवहार. प्रसिध्यति ।
सत्ये सत्येव विश्वासो व्यवहारस्तदुद्भव: ॥५३॥

सत्य के सहारे पर ही लोक का व्यवहार चलता है। क्योंकि लोकव्यवहार के लिए परस्पर विश्वास की आवश्यकता होती है और विश्वास सत्य रहने पर ही हो सकता है।

यथाऽभावस्य भावेन विरोध: शाश्वतो मत॰ ।
प्रकाशसन्निधाने हि तम सद्यो निलीयते ॥५४॥
यथा मन.प्रसादेन शोकोद्वेगो विनश्यत ।
तथाऽसत्यस्य सत्येन सहभावो न सिद्धयति ॥५५॥

जैसे अभाव का भाव के साथ शाश्वत विरोध है,
जैसे प्रकाश के होते ही अन्धकार तत्काल हट जाता है,
जैसे मन प्रसाद से शोक और उद्वेग नष्ट हो जाते हैं,
ऐसे ही सत्य और असत्य एक साथ नही रह सकते हैं।

[९]

दु.खागम से कल्याण

पङ्कादुत्पद्यते पद्ममहो रात्र्या प्रजायते ।
ग्रीष्मादनन्तरं वर्षा विद्युन्मेघात्प्रजायते ॥५६॥
शुक्लपक्षसमारम्भ कृष्णपक्षादनन्तरम् ।
कण्टकाचितवृक्षेभ्यो मनोज्ञकुसुमोद्गम॰ ॥५७॥
दास्यात्स्वतन्त्रतावाप्ति. स्वास्थ्यं रोगादनन्तरम् ।
दारिद्रय संपदो भूमिस्तपस सिद्धिरेव च ॥५८॥
कन्यागर्भात्समुत्पत्तिर्व्यासादीनां महात्मनाम् ।
शूद्रेभ्योऽपि सता जन्म ज्ञानमज्ञानिनां तथा ॥५९॥
वृत्तेऽस्मिन् दृश्यमाने तु सृष्टावस्या समन्तत ।
कस्याञ्चिद् दु स्थितौ नैव नैराश्यमुपयुज्यते ॥६०॥

लोकेशस्य जगद्भर्त्तुर्विश्वकल्याणकारिणी ।
प्रवृत्तिर्धीमता शाश्वच्छ्रद्धाविश्वासदायिनी ॥६१॥
सर्वापि दु स्थितिस्तस्मात् सुस्थितेरेव कारणम् ।
एवं दुःखागमो नूनं कल्याणायैव जायते ॥६२॥
सिद्धान्तमिममाश्रित्य धीरा धैर्यधुरंधरा. ।
निरातङ्का समुन्नत्यै प्रयतन्ते निरन्तरम् ॥६३॥

पङ्क से पद्म उत्पन्न होता है, रात्रि से दिन का जन्म होता है, ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा आती है, विद्युत् मेघ से जन्म लेती है ।

शुक्लपक्ष का प्रारम्भ कृष्णपक्ष के अनन्तर होता है, काँटो से व्याप्त पौधो से सुन्दर पुष्पो का उद्गम होता है ।

दास्य से स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है, रोग के पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ होता है, जहाँ दारिद्रय है वही सम्पत्ति आती है, कष्टमय तप से ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

कन्या के गर्भ से व्यासादि महात्माओ का जन्म हुआ माना जाता है, शूद्रो से भी सन्तो का जन्म होता है, अज्ञानियो को ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

इस सृष्टि में जब सब ओर यह बात दिखाई दे रही है, तब किसी भी दुरवस्था मे निराश होना उपयुक्त नही है ।

जगत् का पोषण करनेवाले, लोको के स्वामी भगवान् की विश्व का कल्याण करनेवाली प्रवृत्ति बुद्धिमानो मे सदा श्रद्धा और विश्वास को उत्पन्न करती है ।

इसलिए 'सारी दु ख की अवस्था अच्छी स्थिति का पूर्वरूप हुआ करती है, एव दु ख का आना भी कल्याण के लिए ही हुआ करता है' ।

इसी सिद्धान्त का आश्रय लेकर धैर्य-धुरन्धर धीर लोग निरतर निर्भयता के साथ उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

॥ इति जीवनज्योतिषि चारित्र्यसपत्तिर्नाम चतुर्थो रश्मि ॥

पञ्चमो रश्मिः

स्वास्थ्य-संपत्ति

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।

आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।······

यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ।

(यजुर्वेद ३।१७)

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि ।

(ऋग्वेद १०।३७।६)

●

पञ्चम रश्मि

स्वास्थ्य--संपत्ति

अग्नि स्वरूप परमात्मन् ! आप शरीर की रक्षा करने वाले है, मेरे शरीर की रक्षा कीजिए ! आप आयु को देने वाले हैं, मुझे पूर्ण आयु दीजिए ! · मेरे शारीरिक स्वास्थ्य मे जो भी कमी हो उसे पूरा कर दीजिए !

(यजुर्वेद ३।१७)

हम कल्याणमय तथा स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त करे !

(ऋग्वेद १०।३७।६)

स्वास्थ्य-संपत्ति

नर उवाच

श्रुत्वा चारित्र्यसंपत्ते स्वरूपं पुण्यवर्धनम् ।
सौभाग्यमात्मनोऽत्यन्तं नूनं मन्ये मुदान्वित ॥ १ ॥

जीवनस्यास्य यात्राया साफल्यं वाञ्छता नृणाम् ।
चारित्र्यं मुख्यपाथेयमिति मन्ये यथार्थत ॥ २ ॥

चारित्र्यमात्मन स्वास्थ्यं भवता प्रतिपादितम् ।
तत्राप्यारोग्यसंपन्ने स्वरूपं यत्तदुच्यताम् ॥ ३ ॥

किं नु शारीरमारोग्यमुपायास्तस्य के मता ।
विशिष्ट उपयोग कस्तत्सर्वं तत्त्वतो वद ॥ ४ ॥

नर ने कहा

चारित्र्य-सपत्ति के पुण्य को बढानेवाले स्वरूप को सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मैं इसे अपना अत्यन्त सौभाग्य मानता हूँ।

मैं मानता हूँ कि इस जीवन-यात्रा की सफलता चाहने वाले मनुष्यो के लिए यथार्थ में चारित्र्य ही मुख्य पाथेय है।

आपने प्रतिपादन किया है कि चारित्र्य ही आत्मा का स्वास्थ्य है। इस प्रसङ्ग मे आरोग्य-सपत्ति के स्वरूप को भी कृपया बतलाइए।

शारीरिक आरोग्य का स्वरूप क्या है ? उसकी प्राप्ति के उपाय कौन-से है ? और उसका विशेष रूप से क्या उपयोग है ? इन सब बातो को तात्त्विक दृष्टि से बतलाइए।

नारायण उवाच

स्थाने तवात्र जिज्ञासा लोकानां हितकाम्यया।
साधु वत्स! समाधानं तस्याः किञ्चिन्मयोच्यते ॥ ५ ॥

श्रीनारायण ने कहा

प्रिय वत्स! इस विषय मे तुम्हारी जिज्ञासा बिलकुल ठीक है और ससार के हित की कामना से वह प्रेरित है। उसका उचित समाधान मैं संक्षेप में कहता हूँ।

[१]

शारीरिक स्वास्थ्य की आवश्यकता

शारीरं मानसं चापि स्वास्थ्यमाश्रित्य मानवः ।
नूनं जीवनयात्राया पारं समुपगं भवेत् ॥ ६ ॥
शारीरं मानसं स्वास्थ्यं समभावश्यक इष्यम् ।
वत्स ! जीवनयात्रायै सत्यमेतन्न संशयः ॥ ७ ॥

यथा चक्रद्वयेनैव शकटं साधु गच्छति ।
तथा तद्द्वयमाश्रित्य जीवनप्रगतिर्गता ॥ ८ ॥

तथापि हन्त ! शारीरं स्वास्थ्यं मोहेन मानवाः ।
अवज्ञाय निरानन्दा यापयन्तीह जीवनम् ॥ ९ ॥

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।"
एतदाप्तवचस्तेषां पदं नो लभते हृदि ॥१०॥

शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक स्वास्थ्य (अर्थात् चारित्र्यसंपत्ति) इन दोनों के सहारे से ही मनुष्य जीवन की यात्रा को ठीक तरह पूर्ण कर सकता है ।

हे वत्स ! जीवन की यात्रा के लिए शारीरिक स्वास्थ्य तथा चारित्र्य-संपत्ति इन दोनों की समान आवश्यकता है । यह सत्य है । इसमें कोई संदेह नहीं है ।

जैसे दो पहियों से ही गाड़ी ठीक तरह आगे बढ़ती है । ऐसे ही शारीरिक स्वास्थ्य और चारित्र्य-संपत्ति इन दोनों के सहारे से ही जीवन की प्रगति हो सकती है ।

तो भी यह खेद की बात है कि मनुष्य मोह (=अज्ञान) के कारण शारीरिक स्वास्थ्य की अवज्ञा करके दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं ।

'शारीरिक स्वास्थ्य या आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम मूल है,' प्रामाणिक लोगों का यह वचन उनके मन में स्थान नहीं पाता है ।

[२]

स्वास्थ्य के संबन्ध में वेदों के मन्त्र

अग्ने ! तनूपास्त्वमसि तनू मे पाहि सर्वत ।
शिरोरत्नमिवैषाशीर्वेदमन्त्रेषु दृश्यते ॥११॥

इममेवार्थमाश्रित्य प्रपञ्चो वहुल श्रुतौ ।
विद्यते तत उद्धृत्य किञ्चिदत्र निदर्श्यते ॥१२॥

'हे अग्निदेव ! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर की सब ओर से रक्षा कीजिए'—वेद-मन्त्रो में ऐसी प्रार्थना देखी जाती है। यह प्रार्थना वेद की मुकुटमणि के समान है।

शारीरिक स्वास्थ्य के विषय को लेकर वेद में बहुत कुछ कहा गया हैं। कुछ वेद-मन्त्रो को उद्धृत करके हम नीचे दिखलाते है।

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥ (यजुर्वेद ३।१७)

अर्थात्, अग्निदेव ! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए। तुम आयु का देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य मे जो भी कमी हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ् म आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णो. श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोजव पादयो प्रतिष्ठा।
(अथर्ववेद १६।६०।१-२)

अर्थात्, मेरे समस्त अग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आँख, और कान अपना-अपना काम ठीक तरह से कर सकें। मेरे वाल काले रहे। दाँतो मे कोई रोग न हो। वाहुओ में बहुत वल हो। मेरी ऊरुओ मे ओज, जाँघो मे वेग और पैरो मे दृढता हो।

दन्तास्तिष्ठन्त्वशोणा मे बाह्वोर्मेऽस्तु बलं बहु ।
ऊर्वोरोजो जवस्तिष्ठेज्जङ्घयो पादयोः स्थिति. ॥१४॥
अश्मेव मे शरीरं स्यात्स्वस्थं दार्ढ्येन संयुतम् ।
कर्मक्षमं सदा तिष्ठेत्पूर्णमायुष्यमाप्नुयात् ॥१५॥
जीवेम शरदः शतं बुध्येम शरद. शतम् ।
रोहेम शरद· शतं पूषेम शरद शतम् ॥१६॥
भवेम शरद. शतं भूषेम शरदः शतम् ।
भूयसी. शरद शतादित्येषाथर्वणी श्रुति. ॥१७॥
एवं नु वेदमन्त्रेषु वैदिकोदात्तभाषया ।
विभिन्नरूपैरारोग्यमहिमैवोपवर्ण्यते ॥१८॥

मेरे मुख मे वाणी, नासिका मे सूँघने और आँखो में देखने की शक्ति सुरक्षित रहे। मेरे कानो मे सुनने की शक्ति स्थायी हो। मेरे केश सदा काले रहे।

मेरे दाँत रोग-रहित हो। मेरी बाहुओ में बहुत बल हो। मेरी ऊरुओ में ओज, जाँघो में वेग और पैरो मे दृढता हो।

मेरा शरीर पत्थर के समान सुदृढ हो। वह सदा स्वस्थ और कर्म करने मे समर्थ रहे और पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करे।

अथर्ववेद की श्रुति (१६।६७।२-८[1]) मे यह प्रार्थना की गयी है कि हम सौ और सौ वर्षों से भी अधिक वर्षों तक जीवित रहे, अपने ज्ञान को बराबर बढाते रहे, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहे, पुष्टि और दृढता को प्राप्त करते रहे, आनन्दमय स्वस्थ जीवन व्यतीत करते रहे, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा सद्गुणो से अपने को भूषित करते रहे।

इस प्रकार वेद-मन्त्रो मे वैदिक उदात्त भाषा द्वारा आरोग्य की महिमा का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया गया है।

---

१. "जीवेम शरद शतम्। बुध्येम शरद शतम्।
रोहेम शरद शतम्। पूषेम शरद शतम्।
भवेम शरद शतम्। भूषेम शरद शतम्।
भूयसी शरद शतात्। (अथर्ववेद १६।६७।२-८)

[४]

स्वास्थ्य की भावना

अतश्च प्रथमं शिष्यन्तुभ्यं महामुनिः ।
सद्य फलप्रदं पूर्णं स्वास्थ्यप्राप्ते स्वासनम् ॥२०॥
वच्मि मन्त्रद्वयं श्रेष्ठं स्वास्थ्यभावेन भावित ।
श्रद्धया परया सर्वैर्हृदये तन्निधीयताम् ॥२१॥

इस प्रसङ्ग में मैं स्वास्थ्य के प्रेमियों के हितार्थ सबसे पहले स्वास्थ्य-शक्ति की प्राप्ति के लिए उपयुक्त दो मन्त्रों को बताता हूँ। महात्माओं ने इन मन्त्रों के प्रभाव को अपने अनुभव में देखा है। ये शीघ्र फल देनेवाले हैं। इनको स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए रामबाण ही समझना चाहिए। सब लोगों को इन दोनों मन्त्रों को बड़ी श्रद्धा से हृदय में धारण करना चाहिए।

स्वास्थ्य के लिए दो मन्त्र

(ओम्) 'स्वस्थोऽहं सर्वथा स्वस्थः स्वस्थो नैवात्र संशय ।
स्वस्थ, सदा भविष्यामि सत्यमेतद् व्रतं मम' ॥२२॥

(ओम्) 'सूर्येण वायुना चैव देवैरन्यैश्च सर्वदा ।
रक्षित सन्निभावेन स्वस्थोऽहं नात्र संशय.' ॥२३॥

दोनों मन्त्रों का अनुवाद

'ओम्' = अर्थात् परमात्मा का स्मरण करता हुआ मैं कहता हूँ — 'मैं स्वस्थ हूँ, सर्वथा स्वस्थ हूँ। मैं स्वस्थ हूँ—इसमें कोई संदेह नहीं है। मैं सदा स्वस्थ रहूँगा—यह मेरा सच्चा व्रत है'।

'ओम् = अर्थात् परमात्मा को स्मरण करता हुआ मैं कहता हूँ —'सूर्य, वायु तथा अन्य देवगण भी सदा सखा-रूप मे मेरी रक्षा करते है। इसलिए मै स्वस्थ हूँ, इसमें कोई सन्देह नही है'।

उक्त मन्त्रों की फलश्रुति

रोगेण महताक्रान्तो भूयोऽस्वास्थ्येन पीडितः।
वैद्यवृन्दैस्तथान्यैश्च भयमापादितोऽसकृत् ॥२४॥
एतन्मन्त्रद्वयं धैर्याद् हृदये धारयन्सदा।
नूनमुत्कृष्टमारोग्यं लभते नात्र संशय. ॥२५॥

बडे रोग से आक्रान्त अथवा बार-बार अस्वास्थ्य से पीड़ित मनुष्य, जिसको बराबर वैद्यो ने तथा अन्य डाक्टरो आदि ने भय से आतुर कर रखा है, उक्त दोनो मन्त्रो को धैर्य-पूर्वक हृदय मे धारण करता हुआ निश्चित रूप से उत्कृष्ट आरोग्य को पा लेता है, इसमें सन्देह नही है।

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्" (ऋग्वेद १।२३।१९), अर्थात्, जलो मे अमृत का वास है, वे औषध-स्वरूप हैं। "सविता अपामीवा बाधते" (ऋग्वेद १।३५।९), अर्थात्, सूर्य बीमारी को भगाता है। इत्यादि वेद-मन्त्रो से स्पष्ट है कि सूर्य आदि दैवी शक्तियाँ हमे स्वास्थ्य का प्रसाद देने के लिए सदैव सन्नद्ध रहती है।

उपाया केचिदन्येऽपि हृदयंगमया गिरा।
कथ्यन्तेऽध समासेन लोककल्याणकाम्यया ॥२६॥

ससार के कल्याण की इच्छा से प्रेरित होकर कुछ अन्य उपाय भी, हृदय को स्पर्श करने वाली भाषा मे, नीचे संक्षेप में कहे जाते हैं—

[५]

हम शरीर के लिए नहीं है

स्वास्थ्य के मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन नीचे के पद्यो में किया गया है —

यातातथ्य या औचित्य से जो कार्य किया जाता है वह प्रशसनीय होता है। इसलिए जीवन-चर्या मे भी याथातथ्य की अपेक्षा है। भगवद्गीता मे[1] इसी भावको 'युक्त' शब्द से कहा गया है। युक्तता अथवा औचित्य को ही योग कहा जाता है। क्योकि काम करने मे कुशलता का ही नाम 'योग' है।[2]

जानन्नप्यतिमूढोऽयं स्वास्थ्यस्य नियमानिमान्।
अतिक्रामन्नहो मोहादायुर्मर्माणि कृन्तति ॥३४॥

स्वास्थ्य के इन नियमो को जानता हुआ भी अतिमूढ मनुष्य इनका उल्लङ्घन करता है, और इस प्रकार यह आश्चर्य की बात है कि स्वय अज्ञानवश अपनी आयु के मर्म-स्थलो को काटता है।

[७]

स्वास्थ्य-रक्षा[3]

शारीरं स्वास्थ्यमाश्रित्य सर्वमन्यत्प्रवर्तते।
तत स्वास्थ्यस्य यत्नेन परिरक्षा विधीयताम् ॥३५॥

चारित्र्यं ब्रह्मचर्यं च संयम श्रम एव च।
साधनं प्रथमं तस्य पौष्टिकाहार एव च ॥३६॥

जीवन मे सब कुछ स्वास्थ्य पर निर्भर है। इसलिए यत्न से स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए। स्वास्थ्य-रक्षा के मुख्य साधन है चारित्र्य ब्रह्मचर्य, सयत जीवन, श्रम और पौष्टिक भोजन।

---

१ तु० "युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु खहा ॥" (भगवद्गीता ६।१७।)

२ तु० "योग कर्मसु कौशलम्" (भगवद्गीता २।५०)।

३ आरोग्य के सम्बन्ध मे महाविद्वान् वाग्भट का यह पद्य सदा स्मरणीय है—

नित्य हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्त।
दाता सम सत्यपर क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोग ॥

[८]

सफल जीवन-यात्रा

यथोच्चैर्गगने गच्छन् पक्षी दृश्यैरनेकशः ।
अनाकृष्टः प्रयात्येव स्वाभीष्टं स्थानमग्रतः ॥३७॥

तथैव जीवने दृश्यैर् नैकैरादर्शमात्मनः ।
अविस्मरन् निरातङ्को विचरेद्विजितेन्द्रियः ॥३८॥

जैसे गगन में ऊँचाई पर उड़ता हुआ पक्षी, विभिन्न प्रकार के दृश्यों से आकृष्ट न होकर, अपने अभीष्ट स्थान की ओर आगे बढ़ता ही जाता है, इसी प्रकार मनुष्य को, विभिन्न दृश्यों के कारण अपने आदर्श को न भुलाते हुए और इन्द्रियों को वश में रखते हुए, निस्सन्दिग्ध भाव से जीवन-यात्रा करनी चाहिए ।

[९]

इन्द्रियसंयम

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन प्रजा नित्यं विमोहिताः ।
यममन्दिरसान्निध्यं स्वयं यान्तीति विस्मयः ! ॥३९॥

मूलं प्रायेण रोगाणामिन्द्रियाणामसंयमः ।
संयमस्तु पुनस्तेषामारोग्याय बलाय च ॥४०॥

इन्द्रियाश्वान् वशीकृत्य नियतं नियतात्मना ।
जीवनाध्वानुसर्तव्य कल्याणमभिलष्यता ॥४१॥

वश्येन्द्रियस्तदर्थान् वै भुञ्जानो न विषीदति ।
जीवनस्य च साफल्यं लभते नात्र संशयः ॥४२॥

यह आश्चर्य की बात है कि इन्द्रियों में प्रसक्ति के कारण मोह और भुलावे में पड़कर मनुष्य स्वयं मृत्यु के घर के समीप पहुँचते रहते हैं ।

इन्द्रियो के असयम से ही प्राय रोग हुआ करते हैं। परन्तु उनके सयम से मनुष्य आरोग्य और बलको प्राप्त करता है।

जीवन की यात्रा में इन्द्रियाँ घोडो के समान हैं। इसलिए आत्मकल्याण चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि वह सयम-नियम से रहता हुआ ही इन्द्रिय-रूपी घोड़ो को वश मे रखकर जीवन के मार्ग पर चले।

इन्द्रियो को वश मे रखकर उनके विषयो का उपभोग करने वाला विषाद को प्राप्त नही होता। वह निस्सदेह अपने जीवन को सफल बना सकता है।

[१०]

जीवन की सफलता

निम्नस्थ पद्यो मे शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर ही जीवन की सफलता हो सकती है, यह बतलाते है—

आदाय मानस स्वास्थ्यं शारीरं तत्प्रवर्तते।
शारीरं स्वास्थ्यमादाय मानसं संप्रसीदति ॥४३॥

रहस्यं परमं हेयतज्जीवनस्य कृतार्थता।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षस्तत्रैवास्ते न संशय ॥४४॥

भद्रं जीवन्नुपेयान्ना जरणामिति या श्रुति.।
स्वारस्यं वर्तते तस्या अत्रैवेति विपश्चित ॥४५॥

दिव्यं तज्जीवनं नूनं शाश्वते पथि गच्छताम्।
पुण्यं यशस्यमायुष्यं लक्ष्यं सत्साधनं च तत् ॥४६॥

मानसिक स्वास्थ्य अर्थात सच्चरित्रता के आधार पर ही शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सकती है। इसी तरह शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर ही सच्चरित्रता का विकास होता है।

यह परम रहस्य है। जीवन की सफलता और उत्तरोत्तर उत्कर्ष की यही कुजी है।

श्रुति (वेद) में जो यह कहा गया है कि मनुष्य कल्याणमय और स्वस्थ जीवन व्यतीत करता हुआ ही वृद्धावस्था को प्राप्त करे[1], उसका अन्तरभिप्राय भी यही है।

उत्तरोत्तर उत्कर्ष की अनन्त यात्रा पर चलने वालो के लिए वास्तव मे यही दिव्य जीवन है। यह पवित्र है तथा यश और आयुको बढानेवाला है। उक्त जीवन को हम अपना लक्ष्य भी कह सकते है और लक्ष्य की प्राप्ति का साधन भी।

'स्वास्थ्य-सपत्ति' प्रकरण के अन्त मे वाज (= बल या शक्ति) की महिमा का वर्णन, वैदिक पद्धति में लिखित, निम्नस्थ रचना में, किया गया है। सच्चे शारीरिक बल अथवा शक्ति की साधना स्वास्थ्य-सपत्ति पर ही निर्भर है।

[११]

'वाजसूक्तम्' अर्थात् वैदिक शक्ति-साधना

वैदिक विचार-धारा की दृष्टि से वाज (= बल या शक्ति) की प्रार्थनाओ का बड़ा महत्त्व है।

उन्ही प्रार्थनाओ के आधार पर, एक ही स्थान मे शतश मन्त्रो की उत्कृष्ट भावनाओ के एकत्रीकरण के उद्देश्य से, वैदिक छन्द, शब्दावली, शैली और विचार-धारा के अनुसार, प्रकृत वाज-सूक्त की रचना की गयी है।

वाजस्य नु प्रसवे तं महान्त-
मिन्द्रं देवं वृत्रहन्तारमीडे।
विश्वकर्माणं मघवानमुग्रं
सायं प्रातर्मन्मना वज्रहस्तम् ॥४७॥

वाज या शक्ति की प्रेरणा के उद्देश्य से मैं, साय और प्रात, स्तोत्र द्वारा वृत्र अथवा बाधक शक्तियो के निवारक उन महान् देव इन्द्ररूप परमात्मा की स्तुति करता हूँ, जो विश्वकर्मा, मघवा (ऐश्वर्यशाली), उग्र और वज्रहस्त है।

---

१ दे० "भद्र जीवन्तो जरणामशीमहि" (ऋग्वेद १०।३७।६)।

यस्ते वाजो निहितो वाजपते !
अग्नौ सूर्ये वायावथ स्रोत्यासु ।
तेन नो वाजिन् ! वाजवतो विधेहि ॥४८॥ (याजुषी रचना)

हे शक्ति के एकमात्र स्रोत परमात्मन् ! जो आपकी अनन्त शक्ति अग्नि मे, सूर्य में, वायु मे और प्रवहणशील नदियो मे कार्य कर रही है, भगवन् ! उससे आप हम सबको शक्तिशाली बनाइए ।

आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि वायु आदि भौतिक पदार्थों में अनन्तानन्त शक्ति निहित है और उसका उपयोग भी विश्व के व्यावहारिक हित के लिए किया जा सकता है ।

इसी सिद्धान्त का विवरण नीचे की ऋचा में किया गया है—

वाजेन सूर्यस्तम आ भिनत्ति
वाजेन वायुस्तरसा प्रवाति ।
वाजेन विद्युद् द्योतते सशब्दं
वाजेन नद्य. प्रवहन्ति वेगात् ॥४९॥

वाज से ही सूर्य अन्धकार को दूर करता है,
वाज से ही वायु वल-पूर्वक चलता है ।
वाज से ही विद्युत् कडकडाहट के साथ चमकती है,
और वाज से ही नदियाँ वेग के साथ वहती हैं ।

वाजेन वीरा विजयं लभन्ते
वाजेनेन्द्रो जायते वृत्रहन्ता ।
वाजेन विश्वं रुचमादधाति
वाजं विना परितो वर्धते तम. ॥५०॥

वल द्वारा ही वीरजन विजय को प्राप्त करते है । वल या शक्ति द्वारा ही समुन्नति-शील व्यक्ति (इन्द्र) अपने लक्ष्य की समस्त वाधाओ (वृत्र) को दूर कर करता है । वल और शक्ति के होने पर समस्त ससार दीप्ति से युक्त अर्थात् रोचक प्रतीत होता है । और शक्ति के अभाव मे निर्बल व्यक्तियो को अपने चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार फैलता हुआ दीखता है ।

वाज पृथिव्यां दिवि चान्तरिक्षे
वाजो विश्वं भुवनमाविवेश ।
आधीश्च व्याधीश्च निवारयन्तो
वाजेन शत्रून् सहसा जयेम ॥५१॥

वाज पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान है। वाज समस्त सृष्टि मे प्रारम्भ से ही व्याप्त हो रहा है । हम अपने मानसिक कष्टो और शारीरिक व्याधियो को निवारण करते हुए, वाज से समस्त आन्तरिक तथा वाह्य शत्रुओ पर सहसा विजय-लाभ करें ।

वाजो हि मा सर्ववीरं करोतु
सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ।
वाज पुरस्तादुत पृष्ठतो मे
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥५२॥

मेरे सब पुत्र-पौत्रादि वल से युक्त हो और मै बलशाली होता हुआ समस्त दिशाओ में विजय प्राप्त करूँ । मेरे सामने वल हो और मेरे पीछे भी वल हो । इस प्रकार वल से युक्त होकर मैं समस्त दिशाओ मे सफलता और समृद्धि को पाऊँ ।

अगली रचना मे, जो यजुरात्मक है, यह बतलाया है कि बल को पाकर मैं किन-किन महान् लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए उसका उपयोग करना चाहता हूँ—

धीतिश्च मे क्रतुश्च मे, वाक् च मे मनश्च मे ,
ओजश्च मे सहश्च मे, शर्म च मे वर्म च मे,
आत्मा च मे तनूश्च मे, महिमा च मे वरिमा च मे,
सत्यं च मे श्रद्धा च मे, क्रीडा च मे मोदश्च मे,
सूक्तं च मे सुकृतं च मे, व्रतं च मे तपश्च मे
वाजेन कल्पन्ताम् ॥ ५३ ॥

भगवन् ! शक्ति से सपन्न होकर मैं यही चाहता हूँ कि मै अपने जीवन में उदात्त लक्ष्यो और गुणो को प्राप्त कर सकूँ, जैसे—

मुझ मे उदात्त विचार (धीति) और उनको कार्यरूप मे परिणत करने का सकल्प या शक्ति (क्रतु) दोनो हो ।

मुझ मे वाक्शक्ति के साथ-साथ विचार-शक्ति भी हो ।

मुझ में बल (ओज.) और उसके द्वारा दूसरो को प्रभावित करने की शक्ति (सह) दोनो हो !

मुझमे कल्याण-भावना (शर्म) और आत्मरक्षा की शक्ति (वर्म) दोनो हो ।

मेरी आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ शारीरिक उन्नति भी हो ।

महत्त्व के साथ-साथ मेरे प्रभाव-क्षेत्र की भी वृद्धि हो ।

सत्यानुसन्धान के साथ साथ मुझ मे श्रद्धा की भावना भी हो ।

मैं निर्दोष क्रीडाओ मे भाग लेता हुआ मोद-प्रमोद को प्राप्त करू ँ।

मुझे सूक्तो-सुभाषिता का ज्ञान हो और साथ ही मेरा आचरण भी तदनुसार हो ।

मैं व्रतो के पालन द्वारा तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यासी बनूँ ।

इस प्रकार वैदिक शक्ति-साधना का लक्ष्य अपने में उत्कृष्ट गुणो का सपादन करना है न कि दूसरो को सताना या पीडा देना ।

हमारा कर्तव्य है कि इस प्रकार वैदिक आदर्शों का अनुसरण करते हुए हम "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्वेद ७।३२।२६) = सत्य के प्रकाश को इसी जीवन मे सतत अनुभव करें ।

॥ इति जीवनज्योतिषि स्वास्थ्यसपत्तिर्नाम पञ्चमो रश्मि ॥

षष्ठो रश्मिः

कर्म-दर्शनम्

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेद ४०।२)

इन्द्र इच्चरतः सखा (ऐतरेयब्राह्मण ७।१५)

●

षष्ठ रश्मि

कर्म-दर्शन

मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। (अयि मानव !) इसी प्रकार (कर्तव्य-भावना से कर्म करने से ही) तुझ मे कर्म लिप्त नही होगा। इससे भिन्न कोई दूसरा प्रकार (कर्म-वासना से छूटने का) नही है।

(यजुर्वेद ४०।२)

सब शक्तियो के निधान परमेश्वर उसी की सहायता करते है जो स्वयं उद्यम-शील है। (ऐतरेयब्राह्मण ७।१५)

कर्म-दर्शन

नर उवाच

स्वास्थ्यचारित्र्यसंपत्त्योर्महिमानमिमं मुखात् ।
श्रुत्वा भगवतो धन्यमात्मानमवधारये ॥ १ ॥

आशावादमुपाश्रित्य व्रतपालनतत्पर ।
दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह ॥ २ ॥

कृती विद्वान् सत्यनिष्ठश्चारित्र्येण च संयुत. ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षस्यादर्शमनुपालयन् ॥ ३ ॥

जनो जीवनयात्राया साफल्यमधिगच्छति ।
इत्येतदुपरिष्टाद्वै भवता प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

तथापि जीवनव्रज्याविषये संशयाकुले ।
नानावादे प्रसंकीर्णे मायामोहतमोमये ॥ ५ ॥

किंकर्तव्यविमूढात्मा पतितो मानव कथम् ।
प्रवर्ततेति कृपया भवान् व्याख्यातुमर्हति ॥ ६ ॥

कर्म कुर्वन्ननासक्त शतं वर्षाणि मानव ।
जिजीविषेच्छ्रुतेरेवमुपदेशोऽपि विद्यते ॥ ७ ॥

तस्यापि विषये व्याख्या कृत्वा देव कृपान्वित ।
अज्ञानतमसा मूढाञ्जनास्त्वं त्रातुमर्हसि ॥ ८ ॥

भगवान् के मुख से स्वास्थ्य-सपत्ति तथा चारित्र्य सपत्ति की उपर्युक्त महिमा को सुनकर मै अपने को धन्य मानता हूँ ।

आशावाद का आश्रय लेकर व्रतो के पालन मे तत्पर, दु खो में जिसका मन उद्विग्न नही है और सुखो में जिसकी स्पृहा नही है, ऐसा कृती (कर्मशील), विद्वान्, सत्यनिष्ठ, चारित्र्य से युक्त, उत्तरोत्तर उत्कर्ष के आदर्श का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति जीवन की यात्रा मे सफलता प्राप्त करता है यह आपने ऊपर प्रतिपादित किया है ।

तो भी, सशयो से व्याप्त, विभिन्न वादो से सकीर्ण और माया तथा मोह के अन्धकार से व्याप्त जीवन-यात्रा मे सलग्न कि-कर्तव्य-विमूढ मानव क्या करे ? कैसे प्रवृत्त हो ? कृपया इसकी व्याख्या कीजिये ।

श्रुति का यह उपदेश भी है कि मनुष्य अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।

भगवन् ! कृपापूर्वक इस विषय की भी व्याख्या करके आप अज्ञान के अन्धकार मे डूबे हुए लोगो की रक्षा कर सकते है ।

नारायण उवाच

धन्योऽसि वत्स येनाद्य प्रश्न एष त्वया कृत ।
तत्समाधानमुद्दिश्य वच्मि त्वा कर्मदर्शनम् ॥६॥

श्री नारायण ने कहा

वत्स ! तुम धन्य हो, जो तुमने आज यह प्रश्न किया है । उसके समाधान की दृष्टि से मै कर्म-दर्शन का उपदेश तुम्हे करता हूँ ।

[१]

कर्म-मार्ग की श्रेष्ठता

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ᳪ समा ।"

(यजुर्वेद ४०।२)

अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह इस ससार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।

केवल शुष्क ज्ञान या निरीह शुभ-सकल्पो से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल नही बना सकता । उनकी वास्तविकता की परीक्षा कर्म की कसौटी पर ही हो सकती है । इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्य में किया गया है—

नैव चिन्तनमात्रेण कार्यं सिध्यति किंचन ।
श्रेष्ठत्वं कर्ममार्गस्य श्रुतौ तस्माद्विधीयते ॥१०॥

केवल सोचने मात्र से कोई भी कार्य सिद्ध नही हो जाता । इसीलिए ऊपर दी हुई श्रुति मे मनुष्य के लिए कर्म-मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ।

[२]

हम अदीन रहें

"अदीना स्याम शरद· शतम् ।
भूयश्च शरदः शतात् ।"

(यजुर्वेद ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक बराबर अदीन रहे ।

हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति-पथ पर आगे बढते रहे—इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्य मे किया गया है—

दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरा मानवो गतिमात्मन·।
आश्चर्यं मूढतादोषाद् दीनं हीनं च मन्यते ॥११।

मनुष्य आत्मा की (अथवा अपनी) प्रगति या उन्नति के अनन्त प्रसार (= विस्तार) को देखकर भी, आश्चर्य है, अज्ञान के दोष के कारण, अपने को दीन और हीन समझता है।

[३]

ज्ञान-पुरस्सर कर्म का महत्त्व

"विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" ॥
(यजुर्वेद ४०।१४)

अर्थात्, विद्या (= ज्ञान) और अविद्या (= कर्म) इन दोनो के सहभाव को जो जानता है, वह कर्म द्वारा मृत्यु (= जीवन की अपूर्णता) को दूर करके ज्ञान द्वारा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

कर्मणा रहितं ज्ञानं पङ्गुना सदृशं भवेत्।
न तेन प्राप्यते किंचिन् न च किंचित्प्रसाध्यते ॥१२॥

कर्म से रहित ज्ञान एक पगु के समान होता है। उससे न तो कोई वस्तु प्राप्त की जा सकती है, न कोई कार्य सिद्ध किया जा सकता।

एवं ज्ञानेन हीनं यत् कर्मान्धेन समं स्मृतम्।
मार्गो वा मार्गलक्ष्यं वा नैव तस्य प्रतीयते ॥१३॥

इसी तरह ज्ञान से रहित कर्म को एक अन्धे के सदृश समझना चाहिए। उसको मार्ग अथवा मार्ग का लक्ष्य कुछ भी प्रतीत नही होता।

कर्मणा मनसा वाचा कर्तव्यं कर्म कुर्वत ।
तस्मादेवेष्टसंसिद्धिश्चतुरस्रा प्रजायते ॥१४॥

इसीलिये ठीक-ठीक इष्ट की प्राप्ति उसी मनुष्य को होती है जो मन वाणी और कर्म से अपने कर्तव्य कर्म को करता है। अर्थात्, ज्ञानपुरस्सर कर्म से ही इष्ट की सिद्धि होती है।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्या पक्षिणा खे यथा गति ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्या स्वेष्टसिद्धि. प्रजायते ॥१५॥

जैसे आकाश मे पक्षियो की गति (उड़ान) दोनो ही पक्षो मे होती है, इसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनो के सहारे से ही मनष्य के अभीष्ट की सिद्धि होती है।

[४]

वर्तमान की उपेक्षा

वस्तुतो वर्तमान यज् जगत्तत्परिहाय हा !
प्रायेण कल्पनालोके विचरन्तीह मानवा. ॥१६॥

यह खेद का विषय है कि मनुष्य वस्तुत वर्तमान या उपस्थित कर्तव्य के जगत् को छोडकर प्रायेण कल्पना के लोक मे ही घूमा करते है।

उपस्थितं परित्यज्यानुसरन्तोऽनुपस्थितम् ।
मन्दप्रज्ञा हि वर्तन्ते बुधस्तान्नाभिनन्दयेत् ॥१७॥

मन्दबुद्धि लोग ही उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित के पीछे दौड़ा करते है। समझदार मनुष्य को चाहिए कि उन लोगो को बढावा न दे।

वर्तमानं समालम्ब्य वर्तते यदनागतम् ।
उपेक्षा वर्तमानस्य तस्मान्नैवोपयुज्यते ॥१८॥

भविष्य का आधार वर्तमान ही होता है। इसलिए वर्तमान की उपेक्षा करना किसी प्रकार भी युक्त नही है।

[५]

मनुष्य को जो प्राप्तकाल है वही करना चाहिए

"कस्तद्वेद यदद्भुतम्" (ऋग्वेद १।१७०।१)

अर्थात्, जो अभी तक नही हुआ है उसे कौन जानता है ?

यदतीतमतीतं तत् सन्दिग्धं यदनागतम् ।
तस्माद् यत्प्राप्तकालं तन्मानवेन विधीयताम् ।।१९।।

जो अतीत है वह हो चुका है, जो अनागत है वह सदिग्ध है। इसलिए मनुष्य को वही करना चाहिए जो प्राप्तकाल है।

[६]

कर्म के फल को ईश्वर पर छोड़ना

"ईशावास्यमिद ँ सर्वं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा"
(यजुर्वेद ४०।१)

अर्थात्, सारे विश्व मे अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त है। कर्म करने पर ईश्वर द्वारा जो फल प्राप्त हो उसीका तुम उपभोग करो।

मनुष्य कर्म करके उसके फल के लिए व्यग्र न हो, इसका उपाय यही है कि वह कर्म करके उसके फल को ईश्वर पर छोड दे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन युक्ति-पुर सर नीचे के पद्यो में किया गया है।

लक्ष्यमुद्दिश्य यत्किञ्चित् कर्म प्रारभते जन ।
प्रायेण तत्फलावाप्तावश कालमीक्षते ।।२०।।

मनुष्य किसी लक्ष्य के उद्देश्य से ही कर्म करता है। परन्तु उसके फल की प्राप्ति प्राय उसके हाथ मे नही होती और उसके लिए उसे प्रतीक्षा करनी पडती है।

तत्कालं तत्फलस्याप्ति प्रायेण नहि दृश्यते ।
किंचित्कालं प्रतीक्षा हि फलावाप्त्या अपेक्ष्यते ।।२१।।

उसके फलकी प्राप्ति प्रायेण तत्काल नही देखी जाती। फल-प्राप्ति के लिए कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।

प्रतीक्षासमये तस्मिन् व्यग्रता निष्प्रयोजना।
यतस्तस्या फलप्राप्तौ कारणत्वं न विद्यते ॥२२॥

उस प्रतीक्षा के समय मे चित्त की व्यग्रता नितरा व्यर्थ है, क्योकि फलकी प्राप्ति में वह व्यग्रता कुछ भी सहायक नही होती।

कर्म कृत्वा ततस्तस्य फलप्राप्तावनुत्सुक।
प्रसन्नश्च निरुद्वेग स्वस्थ आसीत पण्डित. ॥२३॥

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को कर्म करके उसके फल की प्राप्ति मे उत्सुकता और उद्वेग को छोडकर प्रसन्नचित्त और शान्त रहना चाहिए।

प्रभौ कर्मफलन्यासस्तस्मै फलसमर्पणम्।
शरणागतिरप्येषा भक्ताना परिभाषया ॥२४॥

भक्तो की परिभाषा मे उक्त मानसिक स्थिति को ही 'कर्मफल को भगवान् पर छोडना' या 'कर्मफल को भगवान् के लिए अर्पित कर देना', अथवा 'भगवान् की शरण मे जाना' इस प्रकार कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि युक्ति और भक्ति दोनो की दृष्टि से मनुष्य को कर्म करके उसके फल के लिए उद्विग्नता को छोडकर शान्त और प्रसन्नचित्त ही रहना चाहिए।

[७]

भगवान् मे विश्वास

"स ·· याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्।"
(यजुर्वेद ४०।८)

अर्थात्, हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थो में योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

मनुष्य को कर्तव्य-बुद्धि मे कर्म करते हुए उसके फलको समस्त विश्व को नियन्त्रण मे रखने वाले कारुणिक भगवान् के निर्णय पर ही छोड देना चाहिए। किस कर्म मे किसी फल के देने की कितनी और कैसी योग्यता है, इसका निर्णय कर्म करने वाला स्वय नही कर सकता।

इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यो मे किया गया है—

कर्तव्यं कर्म कुर्वन्तो यावद्धि पुरुषायुषम्।
वर्तेरन् मानवा सर्व इत्येषा वैदिकी श्रुति ॥२५॥

मनुष्यो को अपने जीवन-पर्यन्त कर्तव्य कर्मा को करते रहना चाहिए—ऐसा वेद[1] मे कहा गया है।

समुद्योगपरैर्भाव्यं जीवने मानवै सदा।
परमुद्योगसीमाया धीमान् ध्यानं न विस्मरेत् ॥२६॥

मनुष्यो को जीवन मे उद्योग अवश्य करना चाहिए। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य को यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि फल के विषय मे उद्योग की अपनी सीमा भी होती है। अर्थात्, किसी उद्योग का अभीष्ट फल अवश्य ही होगा या सदा एक-सा ही फल होगा, यह नही कहा जा सकता।

गर्भागतस्य सर्वस्य स्त्रीययत्नानपेक्षया।
ते ते भावा नियम्यन्त एतत् कस्य तिरोहितम् ॥२७॥

गर्भावस्था मे आये हुए प्राणी की अनेक बातो का नियन्त्रण, अपने यत्न के बिना ही, किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है, यह किससे छिपा है?

स्वास्थ्यं बुद्धिस्तथावस्था संपत्तेरथवेतरा।
शरीरस्याकृती रूपं पितरौ च कुलं तथा ॥२८॥

सर्वस्यापि जनस्यैतज्जीवनेऽतिप्रभावकृत्।
तथापि सर्व एवात्र विषये विवशा ध्रुवम् ॥२९॥

स्वास्थ्य, बुद्धि, सपत्ति, दारिद्रय, शरीर की आकृति, रूप, माता-पिता और कुल—इन सबका मनुष्य के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। तो भी, जन्म के समय इनके विषय मे सब कोई विवश होते है।

---

१ तु० 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत१ समा' (यजुर्वेद ४०।२)

अभिप्राय यह है कि जन्म के समय मनुष्य के स्वास्थ्य, बुद्धि आदि कैसे है, इसमें उसका यत्न कुछ नही होता। स्पष्टत इनका नियन्त्रण किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है और उस नियन्त्रण को बरबस सबको मानना ही पड़ता है।

एवमुद्योगकालेऽपि तत्फलं प्रत्यनुत्सुक ।
नियन्तुर्जगता पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रित ॥३०॥

इसी प्रकार उद्योग करते समय भी मनुष्य को चाहिए कि वह, उसके फल के सम्बन्ध में उत्सुकता और उद्विग्नता को छोडकर, सबको नियन्त्रण मे रखने वाले विश्वपति भगवान् के विश्वास के सहारे पर हीं रहे।

वर्तमानेन संतुष्टस् तथाप्युन्नत्यभीप्सया ।
समुद्योगपरस्तिष्ठेत् फलं न्यस्य परात्मनि ॥३१॥

मनुष्य को वर्तमान से सन्तुष्ट रहते हुए भी, उन्नति की इच्छा से उद्योग मे तत्पर होना चाहिए। साथ ही उसे उद्योग के फल को परमात्मा पर छोड़कर रहना चाहिए।

तदेतज्जीवनस्याहू रहस्यं परमं बुधा ।
तज्ज्ञात्वा येऽनुवर्तन्ते भवबाधास्तरन्ति ते ॥३२॥

विद्वानो के अनुसार जीवन का परम रहस्य यही है। इसको समझ कर जो इसका अनुसरण करते है वे सासारिक यातनाओ को पार कर जाते है।

[८]

स्वर्गीय धर्म-राज्य

"अग्ने नय सुपथा·······युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।"

(यजुर्वेद ४०।१६)

अर्थात्, हे प्रकाशमय भगवन्, हमे छल-कपट के पाप से बचाकर सीधे-सरल सत्य-मार्ग से ले चलिए।

हमारे धार्मिक कृत्यो और प्रतिदिन के लौकिक जीवन में परस्पर कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नही है, ऐसी धारणा प्राय सर्वत्र फैली हुई है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए यह कितनी घातक है, यह कौन नही जानता ? उक्त धारणा के दुष्प्रभाव को ही दृष्टि में रखकर नीचे के पद्यो मे 'धार्मिक कृत्यो की वास्तविक उपयोगिता मनुष्य के लौकिक जीवन मे पवित्रता के लाने में ही है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

देवपूजाविधि लोका कर्तव्यत्वेन कुर्वते।
तथैव लौकिकं कर्म कर्तव्यमिति मन्यताम् ॥३३॥

लोग देवपूजा को कर्तव्य-बुद्धि से करते है। देवपूजा से अतिरिक्त, जीविकादि-सम्बन्धी लौकिक कामो को भी उसी प्रकार कर्तव्य समझ कर ही करना चाहिए।

यावन्त्यपि हि कर्माणि बुद्धया कुर्वन्ति मानवा ।
चारित्र्यस्य विनिर्माणे सामर्थ्यं तेषु विद्यते ॥३४॥

मनुष्य जिन-जिन कामो को भी बुद्धि-पूर्वक करते हैं उन सब मे चारित्र्य के निर्माण का सामर्थ्य होता है।

इस दृष्टि से जीविकादि-सम्बन्धी लौकिक कामो और धार्मिक कृत्यो मे परस्पर कोई भेद नही हो सकता। क्योकि, दोनो मे एक-सा ही चरित्र के निर्माण का सामर्थ्य है।

ततश्च लौकिकं कर्म विभिन्नं धर्मकृत्यत.।
एतादृशी मतिर्येषा भ्रान्तास्ते, नात्र संशय' ॥३५॥

इस लिए लौकिक कर्म धार्मिक कृत्य से विभिन्न होता है, ऐसा जिनका विचार है उनको निस्सन्देह भ्रान्त समझना चाहिए।

लौकिकान्यपि कर्माणि कुर्वन् धर्मं न विस्मरेत्।
एतावदेव माहात्म्यं धर्मकृत्येषु नो मतम् ॥३६॥

हमारे मत में धार्मिक कृत्यो का महत्त्व केवल इतने मे ही है कि मनुष्य लौकिक कर्मों को करते हुए धर्म को न भूल जावे।

अभिप्राय यह है कि धार्मिक कृत्यो और लौकिक कर्मो का क्षेत्र परस्पर असबद्ध नही है। धार्मिक कृत्यो की वास्तविक महत्ता और उपयोगिता इसी

[९]

बुद्धि और भावना का संघर्ष

"श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्। श्रद्धया सत्येन
मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयति।" (ऐतरेयब्राह्मण ७।१०)

अर्थात्, श्रद्धा (भावना-मूलक) और सत्य (बुद्धि-मूलक) की उत्तम जोड़ी है। श्रद्धा और सत्य की जोड़ी से मनुष्य दिव्य लोकों को प्राप्त कर लेता है।

भावना और बुद्धि के विरोध से होने वाली हानि और उनके समन्वय से होने वाले लाभ का वर्णन नीचे के पद्यों मे किया गया है—

बुद्धिभावनयोर्द्वन्द्वं जीवने दृश्यतेऽनिशम् ।
खिन्नतानुभवस्तस्मात् प्राय: कस्य न जायते ? ।।४१।।

जीवन में बुद्धि (Intellect) और भावना (Sentiment) का पारस्परिक सघर्ष बराबर देखने मे आता है । उस संघर्ष के कारण ऐसा कौन होगा जिसको खेद का अनुभव प्राय न होता हो ?

नीचे बुद्धि और भावना के स्वरूप को दिखाते हुए उनके समन्वय के प्रकार और आवश्यकता को बतलाते हैं—

भावनाया गतिर्धर्मो बुद्धेर्दर्शनमुच्यते ।
पङ्ग्वन्धयो समस्तस्मात्तयो सम्बन्ध इष्यते ।।४२।।

भावना का धर्म गति है, और बुद्धि का दर्शन है । इसलिए पगु और अन्धे के सम्बन्ध के समान ही उनका सम्बन्ध माना जाता है ।

भावनाप्रसरे दु खं बुद्धौ निष्क्रियता भवेत् ।
समन्वयस्तयोस्तस्मादेष्टव्यो भूतिमिच्छता ।।४३।।

भावना के आवेग मे दु ख और बुद्धि मे निष्क्रियता होती है । इसलिए अभ्युदयाकाक्षी को उन दोनो के समन्वय के लिए यत्न करना चाहिए ।

भावना प्रेरणा दद्याद् बुद्धिर्मार्गं प्रदर्शयेत् ।
समन्वये तयोरेवं जन कल्याणमश्नुते ।।४४।।

भावना और बुद्धि मे समन्वय के हो जाने पर, भावना से प्रेरणा प्राप्त होती है और बुद्धि कर्तव्य-मार्ग को दिखाती है । इस प्रकार उनके समन्वय से मनुष्य कल्याण को प्राप्त होता है ।

[१०]

जीवन-यात्रा में तीर्थ-यात्रा की समानता

जीवनमेतदभीष्टं यत्तल्लक्ष्यं तदधिगन्तुम् ।
साधनमुक्तमभिज्ञै सदसन्निर्धारणे दक्षै ।।४५।।

तीर्थं पुण्यं जिगमिषुर्यात्री शुद्धश्रद्धोपेतः ।
सततमितः सन् याति तथा जीवनयात्रा ॥४६॥

मार्गे दृश्यं मनोज्ञममनोज्ञं भीषणं वाऽस्तु ।
उत्साहयुक्तस्तथापि यात्री स्वं प्रयात्येव ॥४७॥

एवं सन्त्यनुकूलाः प्रतिकूलाः परिस्थितयः ।
नूनं सर्वजनानां जीवनमार्गे समायान्ति ॥४८॥

धीरोत्साहितधीर्मोहमगमतो तत्राथ प्राज्ञः ।
सोऽयं समासक्तः साफल्यं जीवने लभते ॥४९॥

तस्मात्सततमसक्तो लक्ष्यं परमं समधिगन्तुम् ।
जीवनमेतत्सम्यङ्नियोज्यं निजगतिप्राप्त्यै ॥५०॥

मनुष्य का जो अभीष्ट लक्ष्य है उसकी प्राप्ति के लिए सत् और असत् (= अच्छा और बुरा) के निर्णय में समर्थ विद्वानों ने इस जीवन को साधन बतलाया है।

पवित्र तीर्थ को जाने के लिए इच्छुक यात्री विशुद्ध श्रद्धा से युक्त तथा बराबर गमन-शील होकर यात्रा करता है, वैसी ही बात जीवन-यात्रा के विषय में है।

मार्ग में आने वाला दृश्य सुन्दर असुन्दर अथवा भीषण भले ही हो। तथापि (तीर्थ-) यात्री उत्साह के साथ अपने तीर्थ-रूप लक्ष्य की ओर चलता ही जाता है।

इसी तरह, कौन नहीं जानता है, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियाँ सब मनुष्यों के जीवन-मार्ग में निश्चय रूप से आती हैं।

उन-उन परिस्थितियों में मोह को न प्राप्त हो कर एकाग्र लक्ष्य पर चित्त को लगाने वाला, धीर तथा उत्साही बुद्धिमान् मनुष्य जीवन में सफलता को प्राप्त कर लेता है।

इस लिए बरावर जागरूक वुद्धिमान् मनुष्य को यही सोचना चाहिए कि परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह जीवन अमूल्य साधन है।

॥ इति जीवनज्योतिपि कर्मदर्शन नाम षष्ठो रश्मि. ॥

सप्तमो रश्मिः

सन्नीति-निदर्शनम्

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्......
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः ॥

(यजुर्वेद ४०।१६)

मा प्र गाम पथो वयम्

(ऋग्वेद १०।५७।१)

●

सप्तम रश्मि

सन्नीति-निदर्शन

प्रकाश-स्वरूप देव ! आध्यात्मिक उत्कर्ष और भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए आप हमे सन्मार्ग से ले चलिए। ... ... आप पाप को हमसे हटाइए ॥

(यजुर्वेद ४०।१६)

हम सन्मार्ग से विचलित न हो !

(ऋग्वेद १०।५७।१)

सन्नीति-निदर्शन

नर उवाच

जीवनस्यास्य यात्राया विषये ये मनीषिणः।
तेऽपि संशेरते प्रायो विमूढा कर्मण पथि ॥ १ ॥

तत्र यद्भवता प्रोक्तमद्भुतं कर्मदर्शनम्।
किंकर्तव्यविमूढाना नूनं तन्मार्गदर्शनम् ॥ २ ॥

परं तथापि लोकेऽत्र व्यवहारेऽनुवर्तने।
दर्शनस्यास्य सुमहत् काठिन्यमनुभूयते ॥ ३ ॥

तत्तद्व्यक्तिस्वभावाना प्रसङ्गाना च भेदत ।
नीतिशास्त्रोपदेशाना वैविध्यमुपलभ्यते ॥ ४ ॥

सता मार्गमुपाश्रित्य या सन्नीतिर्मता तत ।
ब्रूहि ता कृपया देव! लोककल्याणकाम्यया ॥ ५ ॥

नर ने कहा

जो मनीषी है वे भी इस जीवन की यात्रा के सबन्ध में, कर्म के मार्ग में भ्रान्त होने के कारण, प्राय सशयग्रस्त पाये जाते है।

इस सबन्ध मे आप ने जो अद्भुत कर्म-दर्शन की व्याख्या की है वह निश्चय ही कर्तव्याकर्तव्य को न समझने वालो के लिए मार्ग को दिखाने वाली है।

पर तो भी इस लोक के व्यावहारिक जीवन मे उक्त कर्म-दर्शन के सबन्ध में बडी कठिनता का अनुभव होता है ।

तत्तद् व्यक्तियो के स्वभावो के तथा प्रसङ्गो के भेद से नीति-शास्त्र के उपदेशो की विविधता देखने में आती है ।

इसलिए सत्पुरुषो के मार्ग का आश्रय ले कर जो सन्नीति मानी जाती है, भगवन् ! लोक-कल्याण की कामना से कृपया उसे बतलाइए ।

नारायण उवाच

श्रुत्वा ते जिज्ञासा हृद्यामेतामतीव सुप्रीत. ।
नीतिं सतामभिमता वक्ष्ये त्वा वत्स ! श्रूयताम् ॥ ६ ॥

श्री नारायण ने कहा

तुम्हारी इस मनोरम जिज्ञासा को सुन कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है । हे वत्स ! सत्पुरुषो द्वारा अभिनन्दित नीति को तुमसे कहता हूँ । उसे सुनो !

[१]

सज्जन-प्रशंसा

परितापेन दुःखाना तप्ताना प्राणिना भृशम् ।
कल्याणार्थाय संनद्धा ये तान् वयमुपास्महे ॥ ७ ॥

दुःखो के परिताप से अत्यन्त सतप्त प्राणियो के कल्याण के लिए जो सनद्ध हैं, उन सन्त-महात्माओ की हम अर्चना करते है ।

कदर्थितोऽपीह खलेन साधुर् हितं परेषा नियतं करोति ।
मुहुर्मुहुश्चन्दनमङ्ग ! घृष्टं मनोरमं सौरभमातनोति ॥ ८ ॥

दुष्ट मनुष्य द्वारा पीडित होने पर भी साधु मनुष्य सदा दूसरो की भलाई करता है । देखिए, बारबार घिसने पर चन्दन मनोज्ञ सुगन्ध को फैलाता है ।

इक्षो प्रवृत्तेरनुगामिनस्ते सन्तो महान्तो विचरन्ति लोके ।
प्रपीडितोऽपीक्षुरमन्दमोदं रसप्रदानेन सदा तनोति ॥ ९ ॥

ससार मे महान् सत्पुरुष इक्षु के स्वभाव का अनुसरण करने वाले होते हैं । इक्षु पेरे जाने पर भी रस देकर सदा विशेष आनन्द का प्रसार करता है ।

पदं वरेण्यं समुशन्ति सन्तोऽसन्त पुनस्तद्विपरीतभावा ।
गृध्र श्मशाने रमते स्वभावाद् हंस पुनर्मानसमेव भुङ्क्ते ॥१०॥

सत्पुरुष वरणीय उत्तम पद को चाहा करते है । असज्जनो का स्वभाव उनसे विपरीत होता है । गृध्र स्वभाव से श्मशान मे प्रसन्न होता है, पर हस प्रसन्नता के लिए मानस-सरोवर का ही सेवन करता है ।

क्षोभं प्रयाता अपि नैव सन्तो दुष्टामशिष्टा गिरमुद्गृणन्ति ।
दुष्टा प्रसन्ना अपि शीलयुक्ता वक्तुं न जातु प्रभवन्ति वाचम् ॥११॥

सज्जन क्षुब्ध होने पर भी अशिष्ट और दुष्ट वाणी का व्यवहार नही करते हैं। दुष्ट लोग प्रसन्नता में भी शीलयुक्त वाणी को कभी नही बोल सकते।

न दुर्जनानामपकृत्यमन्तः सता कदाचित्पदमादधाति।
पादाहतोऽप्येष तरुर्विशालश् छायाश्रितानामपहन्ति तापम् ॥१२॥

दुर्जनो का अपकार सत्पुरुषो के हृदय मे कभी स्थान नही पाता। यह सामने का विशाल वृक्ष, पैरो से ताडित होने पर भी, अपनी छाया में आश्रितो के ताप को दूर कर देता है।

समुज्ज्वलं प्रेम हि सज्जनाना दिने दिने पोपमुपैति नूनम्।
स्थिरस्वभावं सुतरामुदारं ह्रासोन्मुखत्वं भजते न जातु ॥१३॥

सज्जनो का समुज्ज्वल अर्थात् विशुद्ध प्रेम दिन-प्रतिदिन पुष्ट होता जाता है। स्थिर-स्वभाव और स्वार्थ की भावना से रहित होने के कारण वह कभी ह्रासोन्मुख नही होता।

आपन्निमग्ना अपि साधुवर्या हरन्ति दु खानि सदा परेषाम्।
आच्छादितोऽहर्पतिरासमन्तादभ्रैस्तमो वारयतीह नूनम् ॥१४॥

साधु-स्वभाव वाले सज्जन, स्वय आपत्तियो से ग्रस्त होते हुए भी, सदा दूसरो के दु खो को दूर करते है। सब ओर से बादलो से ढका हुआ भी सूर्य अन्धकार को अवश्य दूर कर देता है।

सङ्ग सता शर्मशतानि सूते सङ्गोऽसता तद्विपरीतवृत्ति।
यस्तेजसा यस्तमसा स्वभावो भेदस्तयोः सर्वजगत्प्रसिद्ध ॥१५॥

सत्पुरुषो का सग अनेक कल्याणो को जन्म देता है। असज्जनो का सग उससे उलटा ही होता है। प्रकाश के स्वभाव और अन्धकार के स्वभाव मे जो अन्तर है उसे सब कोई जानते है।

सत्सङ्गमे तिष्ठति यन्महत्त्वं तज्ज्ञायते दुर्जनसंगमेन।
सुखं हि दु खानुभवेन भाति दीपप्रकाशोऽपि घनान्धकारे ॥१६॥

सत्सग का जो महत्त्व है वह दुर्जन के सग से ही जाना जाता है। सुख का स्वरूप दु ख के अनुभव से ही प्रतीत होता है, एव घोर अन्धकार मे ही दीप के प्रकाश का महत्त्व स्पष्ट होता है।

नीचोऽपि सङ्गेन सता जनाना महत्त्वमासादयति प्रकामम्।
समुद्रशुक्तौ गतमम्बुदाना प्राप्नोति मुक्ताफलता जलं तत् ॥१७॥

सज्जनो के सङ्ग से नीच मनुष्य भी विशेप महत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह प्रसिद्ध है कि समुद्र की शुक्ति मे पड़ा हुआ वादलो का जल मोतियो के रूप मे परिर्वात्तत हो जाता है।

[२]

असज्जनों का स्वभाव

असज्जन पापनिबद्धबुद्धिस्तस्मै न कोपावसर प्रदेय ।
क्षेपेण पङ्के विदितं शिलाया वस्त्राणि नून मलिनीभवन्ति ॥१८॥

असजन की वुद्धि पाप में लगी रहती है। उसको कोप का अवसर न देना चाहिए। यह सब जानते है कि कीचड में पत्थर के फेंकने से कपडे मैले हो जाते है।

वहूपकारैरुपसेवितोऽपि कृतज्ञता नैव खलो बिभर्त्ति।
सुवर्णकुम्भेन पयोनिषेकान् माधुर्यमाप्नोति न निम्बवृक्ष ॥१९॥

अनेक उपकारो से उपकृत होने पर भी दुष्ट मनुष्य कृतज्ञ नही होता। सुवर्ण के घडे से पानी सीचने से नीम के वृक्ष मे मिठास नही आता है।

श्रुत्वैव वाणीरुपदेशभाजो दुष्टा बुधाना सहसा त्यजन्ति।
मालाकृता संग्रथितं सुपुष्पैर्मृ‌द्नन्ति माल्यं कपयो मनोज्ञम् ॥२०॥

दुष्ट लोग विद्वानो के उपदेश-भरे वचनो को सुनते ही तत्काल छोड देते है। माली द्वारा अच्छे फूलो से वनायी हुई सुन्दर माला को वन्दर मसल डालते है।

दुष्टाशयानामसता हि सङ्ग. फलं प्रसूते नितरामवद्यम्।
भुजङ्गमाना पतितं मुखान्त. स्वातेर्जलं याति विपत्वमेव ॥२१॥

दुष्ट अभिप्राय वाले असज्जनो का सङ्ग अत्यन्त निकृष्ट फल को पैदा करता है। सर्पों के मुख के अन्दर गिरा हुआ स्वाति नक्षत्र का जल विप वन जाता है।

सङ्गेन दुष्टस्य सतामपीह मानस्य हानिर्भवतीति दृष्टम्।
वक्रस्य लोहस्य निपेवणेन घनस्य घातं सहते कृशानु ॥२२॥

दुष्ट के सङ्ग से सज्जनो के भी मान की हानि देखी जाती है। टेढे लोहे के सेवन से अग्नि को हथौडे की चोट सहनी पडती है।

मलीमसा मत्सरिण. सहन्ते नैवापरेषा खलु भाग्यवृद्धिम्।
संवीक्ष्य चन्द्रस्य रुचिं रजन्या न जातु मोदं लभते हि चौर. ॥२३॥

ईर्ष्यालु स्वभाव के दुष्ट लोग दूसरो की भाग्य-वृद्धि को नही सह सकते। रात्रि मे चन्द्रमा के प्रकाश को देख कर चोर को कभी प्रसन्नता नही होती।

[३]

विद्या-वन्दना

विद्या समुन्नतिपथं विशदीकरोति
बुद्धिं विचारविषये प्रखरीकरोति।
कर्तव्यपालनपरा धियमादधाति
विद्या सखा परमबन्धुरपीह लोके ॥२४॥

विद्या उन्नति के मार्ग को स्पष्टतया दिखाती है, विद्या विचारणीय विषयो मे बुद्धि को तीक्ष्ण करती है, विद्या बुद्धि को कर्तव्य-पालन में तत्पर बनाती है, विद्या इस लोक मे सखा और परम-बन्धु के समान है।

रूपं प्रसिद्ध न बुधास्तदाहुर्विद्या मता वस्तुत एव रूपम्।
अपेक्षया रूपवता हि विज्ञा मान लभन्तेऽतितरा जगत्याम् ॥२५॥

ससार मे जिस को रूप कहा जाता है विद्वान् लोग उस को रूप नही मानते। वे तो विद्या को ही वास्तविक रूप समझते है। क्योकि, रूपवानों की अपेक्षा ससार मे विद्वान् लोग ही अधिक मान-सत्कार को पाते है।

धनं धनं नैव मतं बुधाना विद्यैव वित्तं मतमस्ति तेषाम्।
चौरो न या चोरयितुं समर्थो भूपोऽहर्तुं न च या समर्थ ॥२६॥

विद्वान् लोग धन को धन नही समझते। उनके मत मे तो विद्या ही वास्तव मे धन है। क्योकि विद्या को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा ही उसको छीन सकता है।

विद्या सकाशादपि प्राकृतस्यादेया सदा स्याद्यदि सा वरिष्ठा।
स्थानेऽप्यपूते पतितं सुवर्णं के नाम लोकेऽत्र परित्यजन्ति ? ॥२७॥

उत्तम विद्या को साधारण व्यक्ति से भी सदा ले लेना चाहिए। अपवित्र स्थल मे भी पडे हुए सुवर्ण को ससार मे कोई नही छोडता।

अवाप्य विद्या विनयेन शून्या अहंयवो दुर्जनता व्रजन्ति।
दुग्धस्य पानेन भुजङ्गमाना विषस्य वृद्धिर्भुवनप्रसिद्धा॥२८॥

विनय-भाव से शून्य अभिमानी लोग विद्या को पाकर दुर्जनता को धारण कर लेते हैं। ससार मे यह बात प्रसिद्ध है कि दूध के पीने से सर्पों के विष की वृद्धि होती है।

[४]

याचना से अपमान

निरादरस्यास्पदमस्ति याञ्चा स्थानं हि मानो लभते न तत्र।
विश्वाधिपो वामनरूपधारी जातो बलेर् याचनतत्पर सन्॥२९॥

याचना में निरादर रहता है। उसमें सम्मान के लिए कोई स्थान नही होता। विश्व के स्वामी भगवान् को भी बलि से याचना करते समय वामनरूप धारण करना पडा था।

श्रेष्ठ कदाचित्कृपणं कदर्यं न याचते कष्टशताकुलोऽपि।
किं चातको जातु पिपासयापि घटं जलं प्रार्थयते विषण्ण ?॥३०॥

श्रेष्ठ मनुष्य सैकडो कष्टो से व्याकुल होने पर भी कभी कृपण नीच व्यक्ति से याचना नही करता। प्यास से व्याकुल होने पर भी क्या कभी चातक घडे से जल की प्रार्थना करता है ?

[५]

सामर्थ्य की महिमा

सामर्थ्यभाजा वहव सहाया न निर्वलाना भवतीह कश्चित्।
वह्नि प्रदीप्तं पवन करोति दीपं पुन प्रापयति क्षयं स॥३१॥

जो सामर्थ्यवान् हैं उनके अनेक सहायक होते हैं, निर्बलो का कोई भी नही। वायु अग्नि को प्रदीप्त करता है, परन्तु दीपक को बुझा देता है।

सामर्थ्यभाजा ननु वैरिणोऽपि भवन्ति नम्रा हितकाङ्क्षिणश्च।
वयस्यवर्या अपि दुर्बलानामुपेक्षया दूरत एव यान्ति ॥३२॥

जो सामर्थ्यवान् है उनके वैरी भी नम्र और हितैषी हो जाते है। अच्छे मित्र भी दुर्बलो की उपेक्षा करके दूर से ही चले जाते है।

वोढुं समर्था महता महान्तो भारं गुरुं नैव तु हीनसत्त्वाः।
सालेषु बन्धो ननु कुञ्जराणामेरण्डवृक्षेषु न जातु दृष्ट ॥३३॥

बडो के भारी बोझे को बडे ही वहन करने मे समर्थ होते हैं, दुर्बल नही। साल के वृक्षो से हाथियो का बांधना देखा जाता है, रेंडी के वृक्षो मे कभी नही।

क्षुद्रै समेत्यापि हि सत्त्वभाजा प्रभूयते नापकृति विधातुम्।
कुल कदाचिन्नहि जम्बुकाना हन्तु यथा केसरिणं समर्थम् ॥३४॥

क्षुद्र लोग इकट्ठे होकर भी सत्त्वशाली लोगो का अपकार करने मे समर्थ नही होते, जैसे गीदडो का समूह भी सिंह के मारने में कभी समर्थ नही होता है।

[६]

सामान्य नीति

उत्कर्षमासादयितुं समर्था गुणैर्विशिष्टा न तु तैर्विहीना।
गुणेन युक्तेन घटेन नूनं कूपान्मनुष्या जलमाप्नुवन्ति ॥३५॥

गुणो से विशिष्ट व्यक्ति ही उत्कर्ष के पाने मे समर्थ होते हैं, निर्गुण नही। 'गुण'-(अर्थात् रस्सी-)-युक्त घडे से ही मनुष्य कुए से जल प्राप्त करते है।

विना श्रमं जातु जनो न कश्चित् श्रियं समासादयितु समर्थ।
अतिप्रयासेन सुरासुरैर्हि लब्धानि रत्नानि समुद्रमध्यात् ॥३६॥

विना श्रम के कोई मनुष्य कभी भी लक्ष्मी को नही पा सकता। देवो और असुरो ने परिश्रम से ही समुद्र के मध्य से रत्नो को पाया था।

सुखं परं किं ? निजतन्त्रतैव, दुःखं परं किं ? परतन्त्रतैव ।
वनेषु कीरा सुखिनो भ्रमन्ति, दीना पुन काञ्चनपञ्जरेषु ॥३७॥

बड़ा सुख क्या है ? स्वतन्त्रता ही । बड़ा दुःख क्या है ? परतन्त्रता ही । वनो में तोते प्रसन्नता से उड़ते फिरते है, पर स्वर्ण के भी पिंजड़ो मे वे दीन-दुःखी रहते है ।

धनं धनं नैव मतं बुधाना, सन्तोष एवास्ति धनं वरीय. ।
सन्तोषहीना अपि वित्तवन्त सुखेन निद्रा बत ! नो लभन्ते ॥३८॥

विद्वान् लोग धन को धन नही मानते, उनके लिए सन्तोष ही श्रेष्ठ धन है । सन्तोष से हीन धनवान् भी सुख की नीद नही सोते हैं ।

स्वल्पोऽपि दोष· समुपेक्षितश्चेदनर्थसन्तानमसौ प्रसूते ।
वह्न कणोऽरण्यपरम्परास्ता भस्मत्वमापादयितुं समर्थ. ॥३९॥

उपेक्षित किया हुआ थोड़ा-सा भी दोष अनर्थ-परम्परा को पैदा कर देता है । अग्नि का कण बड़ी-बड़ी अरण्यपरम्पराओ को भस्म करने में समर्थ होता है ।

न भुज्यते नापि वितीर्यते चेदन्ते तदन्येऽपहरन्ति नूनम् ।
एवं च वित्तं कृपणस्य लोके तथा समानं मधु मक्षिकाणाम् ॥४०॥

यदि उपयोग नही किया जाता है और दान मे भी उसे नही दिया जाता, तो अन्त मे निश्चय ही दूसरे लोग उसका अपहरण करलेते है । इस प्रकार ससार में कृपण का धन और मधुमक्खियो का मधु दोनो समान होते हैं ।

कार्ये प्रवर्त्तेत फलं समीक्ष्य व्यथा न जायेत यथानुतापात् ।
तुल्यं तिलै क सिकता· प्रपीड्य तैलं समासादयितुं समर्थ ? ॥४१॥

परिणाम का विचार करके ही कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिए, जिससे पश्चात्ताप की व्यथा न उठानी पडे । तिलो की तरह बालू को कोल्हू मे पेल कर कौन तेल पा सकता है ?

कार्यस्वरूपावगमस्य काल. कार्यप्रवृत्ते प्रथमं प्रदिष्ट. ।
जाते विवाहे कुलशीलपृच्छा जामातृपक्षात्कुरुते नु कश्चित् ? ॥४२॥

जो काम करना है उसके स्वरूप को समझने के लिए उसके प्रारम्भ करने से पहले का ही समय ठीक कहा गया है। विवाह के हो जाने पर क्या कोई जामाता के पक्ष से उसके कुल और शील के विषय मे पूछ-ताछ करता है ?

कालानुकूल्येन विधीयमानं कार्यं हि साफल्यमुपैति नूनम्।
उप्तेषु बीजेष्वयथर्त्ववश्यं धनश्रमौ निष्फलता प्रयात॰ ॥४३॥

काल की अनुकूलता को देख कर जो कार्य किया जाता है वह अवश्य सफलता को पाता है। प्रतिकूल ऋतु मे बीजो के बोने से धन और श्रम दोनो व्यर्थ ही जाते है।

अनागतार्थं प्रसमीक्ष्यकारी संसिद्धिमासादयितुं समर्थः।
वह्निप्रदीप्ते भवने तु कूपं खनन् हि मूर्खो लभते न किंचित् ॥४४॥

अनागत (आने वाले) विषय का सम्यक् विचार करके जो कार्य करता है वही सफलता को पा सकता है। घर में आग लग जाने पर कुएँ को खोदने वाले मूर्ख जन को कुछ भी फल नही मिलता।

उपायगुप्तस्य नरस्य कश्चित् शत्रुर्न शक्तोऽपकृतं विधातुम्।
उपानहौ येन धृते न तस्य तापाय शक्ता. सिकता प्रतप्ता ॥४५॥

जो यथासमय उपाय से अपनी रक्षा कर लेता है, कोई भी शत्रु उसका कुछ नही विगाड सकता। जिसने जूते पहिन रखे हैं, गरम बालू उसके पैरो को नही जला सकता।

कटुकौषधेन तुल्यमादौ कष्टप्रदाप्यन्ते।
आतन्वती जनाना हितमापत्तिर्भवेन्नूनम् ॥४६॥

आपत्ति, कटुक औषध के समान, आदि मे कष्ट को देने वाली होते हुए भी, अन्त मे निश्चय ही लोगो का हित करने वाली होती है।

शस्त्र-प्रयोगमातन्वन् स्फोटे शल्यचिकित्सक.।
कष्टं ददाति तत्कालं परिणामे हितावह ॥४७।

शल्य-चिकित्सक (= चीड-फाड़ करनेवाला चिकित्सक) फोडे पर शस्त्र (= नश्तर) का प्रयोग करते हुए तत्काल तो कष्ट देता है, पर परिणाम मे हित करने वाला ही होता है।

न विद्यया तथा कश्चिच्छोभा समधिगच्छति।
विद्यया प्राप्तबोधस्याचरणेन यथा नर. ॥४८॥

कोई मनुष्य विद्या से वैसी शोभा को नही पाता, जैसी शोभा को वह विद्या द्वारा प्राप्त बोध के आचरण से प्राप्त करता है।

मृत्योरात्मपरित्राणं तावन्न कठिनं मतम्।
यावत्पापात् परित्राणं मानवस्य भवेदिह ॥४९॥

मृत्यु से अपना परित्राण उतना कठिन नही माना जाता, जितना मनुष्य के लिए पाप से अपने को बचा लेना।

योग्यताया अभावं चेत्पश्येत्कार्यस्य कस्यचित्।
प्राज्ञ आत्मनि तद्भारं दूरत परिवर्जयेत् ॥५०॥

प्राज्ञ मनुष्य को चाहिए कि यदि वह किसी कार्य के करने की योग्यता अपने मे नही देखता है तो उसके भार को दूर से ही छोड दे।

अङ्गीकुर्वन्ति चेत्किंचित्कार्यं कर्तुं मनस्विन.।
जायन्ते तत्परा पूर्णशक्त्याथोत्साहसंपदा ॥५१॥

मनस्वी लोग यदि किसी कार्य को करना स्वीकार कर लेते है, तो उसके करने मे पूरी शक्ति और उत्साह से तत्पर हो जाते है।

संमानेन च संपत्त्या प्रभावेण च संयुतम्।
दृष्ट्वा दुष्कर्म मा मोहं! यासीस्त्वं क्षीणचेतन· ॥५२॥

दुष्कर्म (अर्थात् दुष्ट व्यक्ति) को समान, सपत्ति और प्रभाव से युक्त देखकर, तुम मूर्खता-वश मोह को न प्राप्त होओ।

चाकचक्येन चकितो मा भूस्त्वं तद्विरूपताम्।
दुरन्ता किन्तु संपश्यन्दूरत परिवर्जये. ॥५३॥

तुम्हे (उक्त दुष्कर्म के) चाकचक्य (बाहरी टीप-टाप) से चकित न होना चाहिए। प्रत्युत उसकी दुष्परिणाम वाली वास्तविक विरूपता को देखते हुए उसे दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

साहसोत्साहहीनस्त्वं मा गा नि सत्त्वता तथा।
यथोत्थातुमशक्तो हि सकृत्पातेन जायसे ॥५४॥

साहस और उत्साह से हीन होकर तुम इस प्रकार नि सत्त्व न हो जाओ कि एक ही बार गिर कर फिर उठ खडे होने मे समर्थ न हो सको।

सुदृढोऽध्यवसायश्चेद्विजयो नियतस्तव।
निरुत्साहस्य वै पुंसो दुर्दशा संमुखे स्थिता ॥५५॥

यदि तुम्हारा अध्यवसाय दृढ है तो तुम्हारी विजय निश्चित है। जो मनुष्य उत्साह से हीन होता है, दुर्दशा उसके सामने खड़ी रहती है।

'सत्कार्यं शक्यते कर्तुं किमत्र विषये मया' ?
स्वार्थमूढे जगत्यस्मिन् प्रश्न एष महांस्तव ॥५६॥

'इस विषय मे मै क्या अच्छा काम कर सकता हूँ ?' स्वार्थ-साधन मे मूढ इस जगत् मे तुम्हारे सामने यह महान् प्रश्न है।

सौभाग्यं किं ? कुतश्चैतद् ? जिज्ञासा वर्तते यदि।
परिश्रमस्य सन्तानं तदवेहीति निश्चितम् ॥५७॥

सौभाग्य क्या है ? सौभाग्य की प्राप्ति कैसे होती है ? यदि ऐसी जिज्ञासा है, तो निश्चित रूप मे यह समझ लो कि सौभाग्य परिश्रम की ही सन्तान है।

दु खराशिर्मनुष्याणा योऽसावतिभयंकर.।
वस्तुमूल्यावबोधस्याभावस्तत्र हि कारणम् ॥५८॥

मनुष्यो के सामने दु खो की अति भयकर राशि का जो प्रश्न है, उसके सवन्ध मे यही जान लेना चाहिए कि वस्तुओ के मूल्य का अज्ञान ही उसका कारण है।

चिन्तामणेर्वितन्वन्त: काचमूल्येन विक्रयम्।
हन्त ! मूढा वयं सर्वे इति कस्य तिरोहितम् ॥५९॥

काँच के मूल्य से चिन्तामणि की बिक्री करनेवाले हम सब मूढ हैं, यह दु ख की बात किसमे छिपी है ?

वर्तन्ते सख्यमाश्रित्य तपस संयमस्य ये।
तेऽपेक्षन्ते न साहाय्यं धनिनामन्धचेतसाम् ॥६०॥

जो लोग तप और सयम के साथ मित्रभाव से रहते हैं (अर्थात् उनको अपने जीवन मे अपनाते हैं), वे (धन के मद से) अन्ध-चेतस् धनियो से सहायता की अपेक्षा नही करते।

कार्यं किञ्चिदनुष्ठातुं योग्यश्चेद्वर्तते भवान्।
अपि सम्यगनुष्ठातुं तद्धि योग्यो भवान् ध्रुवम् ॥६१॥

यदि किसी कार्य को करने की योग्यता आप मे है, तो उस कार्य को ठीक तरह से करने की योग्यता भी आप मे निश्चय ही है।

पुरस्तादात्मनो नित्यमादर्शान्महतो बुध ।
स्थापयेच्चाधिगन्तुं तान् प्रयतेत निरन्तरम् ॥६२॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह सदा महान् आदर्शों को अपने सामने रखे और निरन्तर उनको प्राप्त करने का यत्न करे ।

जीवनस्य स्वकीयस्य सिद्धान्ता ये विनिश्चिता ।
रक्षा प्राणव्ययेनापि सन्तस्तेषा प्रकुर्वते ॥६३॥

अपने जीवन के जिन सिद्धान्तो को निश्चित कर लिया है, प्राणो को दे कर भी सत्पुरुष उनकी रक्षा किया करते हैं ।

सत्येन धार्यते लोक सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
नहि सत्यात्परो धर्मो देवा सत्यमया मता ॥६४॥

सत्य लोक को धारण किये हुए है । सत्य में सब प्रतिष्ठित है । सत्य से बढ कर कोई धर्म नही है । देवता भी सत्यमय माने जाते है ।

काम स्वार्थपरा लोका विवदन्ता परस्परम् ।
तथाप्यन्यप्रतिष्ठाया अपवादो न युज्यते ॥६५॥

अपने अपने स्वार्थ में तत्पर लोग भले ही परस्पर विवाद करें, तो भी दूसरे की प्रतिष्ठा का अपवाद करना (=दूसरे को बदनाम करना) किसी दशा में उचित नही है ।

सुस्थिर सत्त्ववास्तिष्ठेदापदा समुपस्थितौ ।
नैवानमेद् दुर्बल' सन् कामं भज्येत धर्मवित् ॥६६॥

आपत्तियो के उपस्थित होने पर सत्त्वशाली धर्मज्ञ व्यक्ति को सुस्थिर रहना चाहिए । दुर्बल होकर उसे आनमित न होना चाहिए, टूट भले ही जावे ।

हानिं विनैव पुष्पाणा भ्रमरो वर्णगन्धयो ।
आदत्ते मधु सामोदं गुञ्जन् मञ्जु मनोरमम् ॥६७॥

एवमेव मनुष्येण लोकरञ्जनपूर्वकम् ।
सद्भावनासहायेन कार्यसिद्धिर्विधीयताम् ॥६८॥

हृदयहारी मञ्जु गुञ्जन करते हुए भ्रमर, फूलो के रग और गन्ध की हानि किये विना ही, आमोद के साथ मधु का ग्रहण करता है ।

मनुष्य को इसी प्रकार लोक को प्रसन्न रखते हुए सद्भावना-पुरस्सर कार्य की सिद्धि करनी चाहिए ।

सुरूपमपि निर्गन्धं यथा पुष्पं भवेत्तथा।
परोपदेशकुशल स्वयमाचारवर्जितः ॥६९॥

रूपवन्ति सुगन्धीनि पुष्पाणीव जना हि ते।
येषा परोपदेशा वै स्वीयाचारोपशोभिता ॥७०॥

जैसे कोई पुष्प सुन्दर होते हुए भी सुगन्ध-रहित हो, वैसी ही स्थिति उस मनुष्य की होती है जो दूसरो को उपदेश देने मे कुशल होते हुए भी स्वय तदनुसार आचरण नही करता।

वे मनुष्य जिनके परोपदेश स्वकीय आचरण से सुशोभित हैं, उन पुष्पो के समान होते है, जो सुन्दर होने के साथ-साथ सुगन्धित भी होते हैं।

उत्तिष्ठ जागृहि आर्तनिद्रया तन्द्रया च किम्?
जीवनस्यास्य साफल्यं जाग्रतामेव जायते ॥७१॥

भाई! उठो जागो! निद्रा और तन्द्रा से क्या लाभ है? इस जीवन में सफलता जागने वालो को ही प्राप्त होती है।

आर्तानां दुःखतप्ताना कृते व्यग्रा भवन्ति ये।
यथेषुविद्धगात्राणा स्वापस्तेषा कथं भवेत्? ॥७२॥

बाणो से विद्ध शरीर वालो के समान, पीडा-ग्रस्त तथा दुःख सतप्त प्राणियो के लिए जो व्याकुल हैं उन्हे नीद कहाँ आती है?

प्रमाद आत्मनोऽस्वास्थ्यमवसादस्तथैव च।
दुःखदारिद्र्यहानार्थं समुत्साहं समाश्रयेत् ॥७३॥

प्रमाद और अवसाद को आत्मा का अस्वास्थ्य समझना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह दुःख और दारिद्र्य को हटाने के लिए उत्साह का आश्रय ले।

शत्रो प्रत्यपकारेण तत्साम्यं लभते नर।
क्षाम्यंस्तस्यापकारं तु तत उत्कर्षमश्नुते ॥७४॥

अपकार के बदले मे यदि मनुष्य शत्रु का अपकार करता है, तो वह उसी जैसा हो जाता है। परन्तु उसके अपकार को क्षमा करने से वह उससे उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।

यादृशं व्यवहारं त्वमन्यस्मात् स्वयमिच्छसि ।
तथा तं प्रति वर्त्तेथा न्याय्ययेतत् सता मतम् ॥७५॥

जैसा व्यवहार तुम दूसरे से अपने प्रति चाहते हो, तुम उसके साथ भी वैसा ही वर्ताव करो । सत्पुरुष इसी को न्याय-युक्त मानते है ।

कष्टावस्थामुपेतश्चेत् किञ्चित् चिन्तयते भवान् ।
परेशस्यानुकम्पाया बीजं तत्रोपलभ्यते ॥७६॥

कष्ट की अवस्था को प्राप्त होकर यदि तुम कुछ भी विचार करोगे, तो तुमको वहाँ परमेश्वर की अनुकम्पा का बीज दिखाई पडेगा ।

नातिवादी भवेत्, सम्यक् चिन्तयित्वा वदेन्नर ।
तूष्णीभाव परा शिक्षा, नापृष्ट. कस्यचिद् वदेत् ॥७७॥

मनुष्य वहुत न बोले । सम्यक् चिन्तन करके ही वोले । चुप रहना वडी शिक्षा है । विना पूछे किसी के बीच मे न बोले ।

प्रथमं शृणुयात् पश्चात्तदर्थमवधारयेत् ।
अनन्तरं प्रयुञ्जीत वच सामयिकं बुध: ॥७८॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि पहले सुने । पीछे उसके अर्थ पर विचार करे । तदनन्तर जो सामयिक वचन हो उसका प्रयोग करे ।

वाक्यमेकं प्रयुञ्जीत श्रुत्वा वाक्यद्वयं बुध. ।
विधात्रा रचिता यस्माज् जिह्वैका कर्णयोर्द्वयम् ॥७९॥

दो वाक्यो को सुन कर वुद्धिमान् मनुष्य एक वाक्य का प्रयोग करे । क्योकि विधाता ने दो कानो के साथ एक ही जिह्वा की रचना की है ।

केनापि सह वार्ताया नम्रस्त्वमवधारये ।
यत्सोऽपि त्वत्समो वुद्धया नाधिकश्चेन्नु मन्यते ॥८०॥

किसी के साथ वार्ते करते हुए तुम नम्रता के साथ सोचो कि वह दूसरा व्यक्ति भी, वुद्धि मे, यदि तुमसे अधिक नही, तो तुम्हारे वरावर तो है ही ।

कस्यचिद् वस्तुनोऽवाप्त्यै मूल्येन रहितोऽसि चेत्।
तदा तच्चिन्तया भ्रातर्मा गा कातरता मुधा ॥८१॥

किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए तुम्हारे पास यदि मूल्य नही है, तो भाई! उसकी चिन्ता से व्यर्थ मे ही व्याकुलता का अनुभव मत करो।

कस्यापि वस्तुनो दृष्ट्वा बाह्यमाडम्बरं महत्।
न कर्तुं युज्यते सद्य स्वरूपस्यावधारणम् ॥८२॥

किसी भी वस्तु के बाहरी महान् आडम्बर को देख कर तत्काल उसके स्वरूप का अवधारण कर लेना उचित नही है।

पदेन तेन को लाभो गौरवेणापि तेन किम्?
विवेकान्धोऽभिमानेन जनो येन हि जायते ॥८३॥

उस पद तथा गौरव से भी क्या लाभ है, जिससे मनुष्य अभिमान के कारण विवेक से रहित हो जाता है।

दृष्ट्वा हान्यापदा वापि ग्रस्तानन्यान्, प्रसन्नताम्।
मा गा, संभाव्यते सैवावस्था ते भाग्यपर्ययात् ॥८४॥

दूसरो को हानि अथवा आपत्ति से ग्रस्त देख कर प्रसन्न न होओ, क्योकि भाग्य के विपर्यय से तुम्हारी भी वही अवस्था हो सकती है।

कस्यापि वस्तु संवीक्ष्यास्वामिकं वापि यस्य वै।
मनो न विक्रिया याति सदाचारी स मे मत ॥८५॥

जिसका मन, किसी की वस्तु को, अथवा जिसका कोई स्वामी नही है ऐसी वस्तु को, देखकर विकार को नही प्राप्त होता है, मैं उसी को सदाचारी मानता हूँ।

महान्त आत्मन ख्यातेर्विरता, कारण विना।
सदाचारपरा ये वै ते ततोऽपि महत्तरा ॥८६॥

महान् पुरुष अपनी ख्याति से विरत होते है। परन्तु जो कारण के विना अर्थात् स्वभाव से ही सदाचार का पालन करते हैं वे उनसे भी महान् होते हैं।

[७]

आशावाद तथा आत्मविश्वास

आशाया लक्षणं किं चेज्जिज्ञासा जायते, शृणु।
आत्मानमीश्वरं वापि प्रत्यास्थाशा मता बुधैः ॥८७॥

आशा (= आशावाद) का लक्षण क्या है ? यदि ऐसी जिज्ञासा है, तो सुनिए—बुद्धिमान् लोग अपने प्रति अथवा ईश्वर के प्रति आस्था को ही आशा (आशावाद) मानते हैं।

अशक्तं कष्टमापन्नं तमसा परितो वृतम्।
निराशाराक्षसीग्रस्त आत्मानं मन्यते जनः ॥८८॥

असंशयमिदं वृत्तमज्ञानस्य विजृम्भितम्।
उद्विग्नो जायते नूनं तिमिरैरावृतो जनः ॥८९॥

ततः एतादृशे काले विद्वांस्तत्त्वसमीक्षकः।
स्वरूपमात्मनः स्मृत्वा तदज्ञानं निवारयेत् ॥९०॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुर्मतमेतन्मनीषिणाम् ॥९१॥

आत्मैवाभिमतो नूनं केन्द्रमाधार एव च।
सर्वस्याप्यस्य जगतो यतः सर्वं प्रवर्त्तते ॥९२॥

विनात्मानं शरीरस्य दुरवस्था प्रजायते।
तिरस्कृत्य तथात्मानमुद्विग्नो जायते जनः ॥९३॥

निराशा रूप राक्षसी से जो मनुष्य ग्रस्त है वह अपने को अशक्त, कष्ट से घिरा हुआ और चारों ओर अन्धकार से आवृत समझता है।

यह स्थिति अज्ञान से उत्पन्न होती है, इसमें संशय नहीं है। अन्धकार से घिरा हुआ मनुष्य निश्चय ही उद्विग्न हो जाता है।

इसलिए ऐसे समय तत्त्वज्ञानी विद्वान् को चाहिए कि वह अपने स्वरूप का स्मरण करके उस अज्ञान का निवारण करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह स्वय अपना उद्धार करे। अपने को अवसाद में न डाले। क्योकि मनीषियो का यह सिद्धान्त है कि आत्मा ही आत्मा का वन्धु है।

इस समस्त जगत् का वास्तव मे आत्मा ही केन्द्र और आधार माना गया है। उससे ही सवकी प्रवृत्ति हो रही है।

आत्मा के विना शरीर की दुरवस्था हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा के तिरस्कार से मनुष्य उद्विग्न हो जाता है।

॥ इति जीवनज्योतिपि सन्नीतिनिदर्शन नाम सप्तमो रश्मि ॥

अष्टमो रश्मिः

भाव-संशुद्धिः

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

(यजुर्वेद ३४।१)

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्

(कठोपनिषद् २।१।१)

●

अष्टम रश्मि

भाव-संशुद्धि

(भगवन् !) मेरे मनके संकल्प कल्याणमय हो ।

(यजुर्वेद ३४।१)

कोई धीर बुद्धिमान् मनुष्य ही आत्म-समीक्षण मे प्रवृत्त होता है ।

(कठोपनिषद् २।१।१)

भाव-संशुद्धि

नर उवाच

सता नीतिमिमा श्रुत्वा साक्षाद्भगवतो मुखात् ।
धन्यमन्य. कृतोत्साह पुनरस्मि निवेदने ॥ १ ॥

विद्यते कर्मविपये जिज्ञासेयं मम प्रभो ।
महत्त्वं भावसंशुद्धे कियत्तत्र हि वर्तते ॥ २ ॥

विनैव भावसंशुद्धि कर्म चेत्कुर्वते नरा ।
का हानिस्तत्र को दोप कृपयैतन्निगद्यताम् ॥ ३ ॥

नर ने कहा—

साक्षात् भगवान् के मुख से सत्पुरुषो की उक्त नीति को सुन कर मै अपने को धन्य समझता हूँ । और इससे पुन कुछ निवेदन करने का मुझे उत्साह हो रहा है ।

हे प्रभो ! कर्म के विपय मे मेरी यह जिज्ञासा है कि उसके सबन्ध में भाव-सशुद्धि का कितना महत्त्व है ।

कृपया यह बतलाइए कि यदि भाव-सशुद्धि के विना ही मनुष्य कर्म करते है तो उसमे हानि और दोप क्या है ।

नारायण उवाच

प्रसन्नो नितरामस्मि प्रश्नेनानेन तच्छृणु ।
भावसंशुद्धिमाश्रित्य समाधानं यदुच्यते ॥ ४ ॥

अभिप्रायानुसारेण प्रत्येकं कर्मण खलु ।
प्रभाव प्रत्यहं सर्वैर्दृश्यते लोकजीवने ॥ ५ ॥

एकमेव कृतं कर्माभिप्रायस्य विभेदत ।
जायते केन नो दृष्टं दण्ड्यं वादण्ड्यमेव वा ॥ ६ ॥

महत्त्वं भावसंशुद्धेस्तस्मादाहुर्मनीषिण ।
कर्मणश्चित्रणं यस्माद्भावभित्तौ प्रजायते ॥ ७ ॥

भगवान् मनुराहेदं त्यागो यज्ञस्तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धि गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ८ ॥
मन पूर्वंगमा धर्मा मन पूर्वा मनोमया.।
बुद्धोऽपि भगवानेवं भावप्राधान्यमुक्तवान् ॥ ९ ॥
परं सा भावसंशुद्धिरन्तर्दृष्टिमपेक्षते।
अत एव श्रुतिर्ब्रूते आत्मनोऽन्तर्निरीक्षणम् ॥१०॥
महत्त्वं भावसंशुद्धेरन्तर्दृष्टेस्तथैव च।
विस्तरेणोच्यतेऽधस्ताच्छ्रद्धया तन्निशम्यताम् ॥११॥

श्री नारायण ने कहा—

तुम्हारे उक्त प्रश्न से मै अत्यन्त प्रसन्न हूँ। भाव-संशुद्धि को लेकर जो समाधान मै कह रहा हूँ उसे सुनो।

नर-जीवन म प्रत्येक धर्म का कर्म करने वाले के अभिप्राय के अनुसार जो प्रभाव होना है उस सब कोई प्रतिदिन देखते है।

किसने नही देखा है कि कोई भी किया हुआ कर्म अभिप्राय के भेद से दण्डनीय अथवा अदण्डनीय हो जाता है।

इसीलिए मनीषी लोग भावसशुद्धि का महत्त्व बतलाते है, क्योंकि भावो की भित्ति (अथवा पृष्ठभूमि) पर ही कर्म का चित्रण होता है।

भगवान् मनु ने ऐसा कहा है[1] कि जिस मनुष्य के भाव दुष्ट या अपवित्र होते है उसके यज्ञ, दान तथा तप कभी सिद्ध नही होते।

भगवान् बुद्ध ने भी भावो के प्राधान्य को इन शब्दो कहा है[2] कि सब धर्मो का आधार मन के ऊपर होता है, मनकी पृष्ठभूमि पर ही वे किये जाते हैं, वास्तव मे उन्हे मनोमय अथवा मनका रूपान्तर ही समझना चाहिए।

परन्तु वह भावसशुद्धि अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा करती है। इसीलिये श्रुति[3] अपने अन्दर निरीक्षण की बात कहती है।

भाव-सशुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि के महत्त्व को हम नीचे विस्तार से कहते हैं। उसे तुम श्रद्धा से सुनो।

---

१ दे० मनुस्मृति २।९७। २. दे० धम्मपद १।१-२।
३ देखिये—कठोपनिषद् २।१।१।

[१]

आत्म-परीक्षण

"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्"

(कठोपनिषद् २।१।१)।

अर्थात्, कोई धीर बुद्धिमान् मनुष्य ही आत्म-समीक्षण मे प्रवृत्त होता है।

मनुष्य चाहता है कि दूसरे लोग उसको जानें और उसका आदर करें, पर यह विचित्र बात है कि वह स्वय अपने को नहीं समझता, और प्राय आत्म-सम्मान की भावना भी उसमे नहीं होती। इसी विचित्र स्थिति को प्रश्न-द्वारा नीचे स्पष्ट किया गया है—

लोको मामभिजानीयात् सादरं चावलोकयेत्।
इति यत्नपरो नित्यमितिचिन्ताकुलो भवान् ? ॥१२॥

परमन्तर्मुखं कृत्वा क्षणं आर्तनिगद्यताम्।
आत्मानमभिजानासि ? नात्मानमवमन्यसे ? ॥१३॥

'ससार मुझे जाने और मुझे आदर की दृष्टि से देखे' क्या आप सदा इसी के यत्न मे नही लगे रहते है ? क्या आप सदा इसी चिन्ता से आकुल नही रहते है ?

पर भाई ! जरा अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके यह तो कहो कि क्या तुम स्वय अपने को जानते हो ? क्या तुम ही अपना अपमान नही करते हो ?

[२]

आत्म-हित की उपेक्षा

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापति ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा सत्ये प्रजापति ॥"

(यजुर्वेद १६।७७)

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने पदार्थों के वास्तविक (= सत्य) और अवास्तविक (= अनृत) स्वरूपो को देखकर पृथक् पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता वास्तविक स्वरूप मे ही है, और अश्रद्धा की अवास्तविक स्वरूप मे।

मनुष्य अपने वास्तविक तथा अवास्तविक स्वरूप को समझे और वाह्-वाही के लिए अपने सच्चे हित की उपेक्षा न करे—इसी वात का प्रतिपादन नीचे के पद्यो मे किया गया है—

वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा।
पदार्थाना, तयोर्मध्ये प्रायेण महदन्तरम् ॥१४॥

पदार्थों के वास्तविक और अवास्तविक—इस प्रकार दो तरह के रूप देखे जाते हैं। प्रायेण उन दोनो मे वड़ा अन्तर होता है।

आपाततस्तु यद् रूपं पदार्थस्पर्शि नैव तत्।
वस्तुतो वर्तमानं तत् पदार्थाना स्वभावजम् ॥१५॥

जो आपातत या अवास्तविक रूप होता है वह पदार्थ को स्पर्श नही करता, अर्थात् पदार्थ की वास्तविकता से दूर ही रहता है। जो वास्तविक रूप होता है वह पदार्थ का स्वाभाविक होता है।

इसी वात को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तारागणो नभोमध्ये स्थूलसूक्ष्मादिभेदत ।
नानाविध समागानि दृष्टिगोचरता सदा ॥१६॥
तत्र यद् वास्तवं रूप तस्मात्तस्या पृथक्त्वत ।
ताराया, सुतरा तत्तु भिन्न यद् दृश्यते तत ॥१७॥

आकाश मे सदा स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के तारे दृष्टिगोचर होते हैं। उन तारो का जो अपना वास्तविक रूप है वह उनके दृष्टि मे आने वाले रूप मे बहुत कुछ भिन्न है।

ज्योतिष-शास्त्र के विशेषज्ञो का कहना है कि तारे वास्तव मे सूर्य है और उनमे से अनेकानेक हमारे सूर्य से भी आकार मे बड़े है। ऐसी दशा मे उनके आपातत दृष्टिगोचर होने वाले रूपो मे और वास्तविक रूपो मे कितना महान् अन्तर है, यह कहने की बात नही है।

एवमेव मनुष्याणा वृत्तस्यापि द्विधा कथा।
वस्तुतोऽवस्तुतश्चेति लोके कस्य तिरोहिता ॥१८॥

इसी प्रकार ससार मे यह बात किससे छिपी है कि मनुष्यो का चरित्र, या स्वरूप भी वास्तविक और अवास्तविक रूप से दो तरह का होता है।

स्पष्टं नाहं यथा लोका प्रायशो मा विजानते।
अस्पृष्टं तद्विचारैस्तु स्वरूपं वस्तुतो मम ॥१९॥

यह स्पष्ट है कि मैं वैसा नही हूँ जैसा प्रायेण ससार के लोग मुझे समझते है। मेरा वास्तविक स्वरूप तो उनके विचारो मे अस्पृष्ट ही रहता है।[1]

उपेक्ष्यात्महितं तथ्यं तथापि बहुधा जना।
लोक दृष्ट्यात्मनो रूपं यत्तदर्थं कृतादरा ॥२०॥

तो भी बहुत करके लोग, अपने वास्तविक हित की उपेक्षा करके, दूसरो की दृष्टि मे अपना जो अवास्तविक रूप होता है उसी की ज्यादा परवा करते है।

अभिप्राय यह है कि अधिकतर मनुष्य अपने वास्तविक चरित्र को उठाने वाली आत्म-कल्याण की बातो की उपेक्षा करते हैं, और दूसरो की वाहे-वाही

---

१ मनुस्मृति मे इसी लिए कहा है—

'समानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा" ॥ (२।१६२)

अर्थात्, विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि वह (मिथ्या) समान से विष की तरह दूर रहे, और अपमान को अमृत के समान चाहे।

लेने के लिए दिखावट की बातो पर ही ध्यान देते हैं और अपने बाह्य अवास्तविक रूप के विषय मे ही अपने सारे प्रयत्न को लगा देते हैं।

यथैव कश्चिदात्मानं विक्रीय परसेवया।
कालं यापयते तद्वद् एतेऽपि परसेवका. ॥२१॥

जो लोग दूसरों की वाह-वाही के लिए ही बराबर सचेष्ट रहते हैं वे दूसरो के उसी प्रकार सेवक है जैसे कोई अपने को दूसरे के हाथ बेचकर उसकी सेवा में ही अपने समय को व्यतीत करता है।

[३]

कर्तव्य की उपेक्षा

मनुष्य के लिए विद्या, बुद्धि, अध्ययन, धर्माचरण आदि की उपयोगिता वास्तव मे उसके चरित्र की पुष्टि मे ही है—इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्यो मे किया गया है।

मन्ये विद्यावता श्रेष्ठो धीमता धुरि सस्थित ।
वेदाद्यनेकशास्त्राणा नित्य स्वाध्यायतत्पर. ॥२२॥
शास्त्रीयकर्मकाण्डस्यानुष्ठाने वा धृतव्रत ।
यद्वेष्टदेवताभक्तौ नियतं दत्तमानस ॥२३॥

माना कि आप विद्वानो में श्रेष्ठ और बुद्धिमानों मे अग्रणी है, वेदादि अनेक शास्त्रो का नित्य स्वाध्याय करने वाले है, यद्वा शास्त्रीय कर्मकाण्ड अग्निहोत्रादि के विधिवत् करने का आपने व्रत लिया हुआ है, अथवा अपने इष्ट देवता की भक्ति में आप का मन सदा लगा रहता है। तो भी—

एवमध्यात्मसंपत्त्या संपन्नोऽपि भवान् यदि।
दरिद्राति स्वकर्तव्ये तत कष्टतरं नु किम् ? ॥२४॥

इस प्रकार आध्यात्मिक सपत्ति से सपन्न होने पर भी, यदि आप अपने कर्तव्य के पालन मे दरिद्र या ढीले हैं, तो इससे अधिक कष्ट की बात और क्या हो सकती है ?

तथैवोपस्थिते भ्रातररातीनामुपद्रवे ।
वाह्यानामान्तराणा वा मन संतापकारिणाम् ॥२५॥
उपशान्तावशक्तश्चेदापन्न इव वर्तसे ।
विद्या बुद्धि श्रुतं भक्ति धिग् धर्माचरणं च ते ॥२६॥

इसी प्रकार भाई ! मन को सन्ताप देने वाले वाह्य अथवा आभ्यन्तर (काम, क्रोध आदि) शत्रुओ के उपद्रव के आने पर उसके दवाने मे अशक्त होकर तुम यदि आपत्ति-ग्रस्त घवडाये हुए मनुष्य की तरह वरताव करते हो, तो तुम्हारी विद्या को, बुद्धि को, शास्त्राध्ययन को, देवभक्ति को और धर्माचरण को भी धिक्कार है ।

[४]

वास्तविक धन

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य"

(कठोपनिपद् १।१।२७)

अर्थात्, मनुष्य की तृप्ति लौकिक धन मे नही हो सकती ।

वास्तविक धन क्या है ? इस का उत्तर नीचे के पद्य मे दिया गया है—

यत्कर्मकरणेनान्त सन्तोषं लभते नर ।
वस्तुतस्तद् धनं मन्ये न धनं धनमुच्यते ॥२७॥

जिस काम के करने से मनुष्य की अन्तरात्मा को सन्तोप होता है, मैं वास्तविक धन उसी को मानता हूँ। लौकिक धन को धन नही कहा जाता है ।

[५]

भावो की महिमा

"श्रद्धया सत्यमाप्यते" (यजुर्वेद १९।३०)

अर्थात्, श्रद्धा अथवा विशुद्ध भावना से ही सत्य अभीष्ट की प्राप्ति होती है ।

मनुष्य श्रद्धामय है । जिस कार्य मे उसकी श्रद्धा होती है उसी मे वह प्रवृत्त होता है । इसीलिए विशुद्ध भावना अथवा भाव-सशुद्धि की आवश्यकता है । इसी दृष्टि से नीचे के पद्यो मे भावो की महिमा को दिखलाया गया है—

सर्वेऽपि मानवा लोके नानायत्नपरा सदा।
धावन्त इव कार्येषु व्यग्रा आयान्ति दृक्पथम् ॥२८॥

ससार मे सारे मनुष्य नाना यत्नो मे लगे हुए, मानों इधर-उधर दौड़ते हुए, सदा कामो मे व्यग्र दिखाई देते है।

तदेतदखिलं वृत्तं तत्तद्भावनिबन्धनम्।
भावैर्हि प्रेरितो मर्त्यस्तत्तत्कार्ये प्रवर्तते ॥२६॥

उक्त स्वाभाविक प्रवृत्ति के मूल मे मनुष्यो के मनो-भाव ही होते हैं। क्योंकि भावो से प्रेरित होकर ही मनुष्य तत्तत् कार्यों मे प्रवृत्त होता है।

अतो यत्कर्मणा मूल्यं भावाधीनं हि तन्मतम्।
यादृशी भावना यस्य तादृशी सिद्धिरिष्यते ॥३०॥

इस लिए कर्मों का जो मूल्य होता है वह भावो के ही अधीन होता है। जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

[६]

भाव-सशुद्धि

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।१)

अर्थात्, ब्रह्म के दो रूप है, मूर्त्त और अमूर्त्त।

नीचे के पद्यो मे मनुष्य के लिए भाव-सशुद्धि की आवश्यकता को दिखलाया गया है—

मूर्त्तं चामूर्त्तमित्येव जगदेतद् द्विधा मतम्।
भावोऽमूर्त्तः, पुनर्मूर्त्तं भावमूलं हि मन्यते ॥३१॥

मूर्त्त और अमूर्त्त इस प्रकार यह जगत् दो प्रकार का माना जाता है। इनमें से भाव अमूर्त्त (= आकाररहित) है, और मूर्त्त को भाव-मूलक माना जाता है।

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे किया गया है—

यच्चापि लौकिकं वस्तु संस्था आचारपद्धति. ।
भावै. संप्रेरितस्यैव मानवस्येह सा कृति· ॥३२॥

जो भी मनुष्य-निर्मित वस्तु, सस्थायें अथवा आचार-पद्धति लोक मे दृष्टि-गोचर होती हैं, वे सब भावो से प्रेरित मनुष्य की ही कृति है ।

कालभेदेन भिन्नाना देशभेदेन वा पुन ।
भेदोऽपि देवताना यो नूनं भावनिबन्धन ॥३३॥

संस्कृतेस्तारतम्यं य आदर्शा दर्शयन्ति न. ।
त एव देवतारूपा दृश्यन्ते भावमूलका. ॥३४॥

काल-भेद से अथवा देश-भेद से देवताओ का जो भेद पाया जाता है वह निश्चय ही भाव-मूलक है । क्योंकि, जो विभिन्न आदर्श हमे सस्कृतियो के तारतम्य को बतलाते है, वे ही भाव-मूलक आदर्श विभिन्न देवताओ के रूप मे देखने मे आते हैं ।

अभिप्राय यह है कि काल-भेद से अथवा देश-भेद से देवताओं में जो भेद पाया जाता है, उसका कारण काल-भेद से अथवा देश-भेद से पायी जाने वाली सस्कृतियो के आदर्शो का भेद ही हो सकता है । इसी लिए क्रूर असभ्य जातियो के देवता क्रूरता-प्रधान, और सभ्य सुसस्कृत जातियो के सात्त्विक और दयालु स्वभाव के होते हैं ।

संस्थितिर्देवताना चेदेवं भावनिबन्धना ।
स्पष्टं तन्मूर्त्तयो लोके भावाभिव्यञ्जिका: स्मृता· ॥३५॥

जब कि देवताओ की ही स्थिति इस प्रकार भाव-मूलक है, तब लोक मे प्रचलित उनकी मूर्त्तियो को तो स्पष्ट ही भावो का अभिव्यञ्जक मानना चाहिए ।

यस्मादस्थिरभावानां मूर्त्तीकरणमिष्यते ।
मनस. स्थैर्यलाभाय मूर्त्तिपूजा मता बुधै· ॥३६॥

यत मनुष्य के अस्थिर भावो को ही मूर्त्त रूप दिया जाता है, (इसलिए) विद्वान् लोग मन की स्थिरता को ही मूर्त्ति-पूजा का लक्ष्य मानते हैं ।

यदीशस्य जगत्स्रष्टु सृष्टिरीक्षणपूर्विका ।
तदा भावमयं सर्वमस्मिन्नर्थे न संशयः ॥३७॥

जगत् को उत्पन्न करने वाले परमात्मा के ईक्षण से ही यह सृष्टि हुई है, यदि यह सिद्धान्त ठीक है, तब तो—सब कुछ भावमय या भाव-मूलक है—इस विषय मे कोई सशय नही उठ सकता ।

उपनिषदो मे कहा गया है[1] कि जगत् की सृष्टि से पहले परमेश्वर ने 'सृष्टि को मै करू" ऐसा ईक्षण किया और उसमे ही सृष्टि हो गयी । यदि ऐसा है तो, सब कुछ भाव-मूलक है, इसमे सशय नही हो सकता ।

तस्मादुत्कर्षसंसिद्धयै मानवस्येह जीवने ।
आत्मनो भावसंशुद्धिः प्रथमं साधनं मतम् ॥३८॥

अत मानव इस जीवन मे उत्कर्ष की प्राप्ति कर सके, इसके लिए अपने भावो की सशुद्धि को मुख्य साधन माना गया है ।

[७]

विनय और आत्मसमान

विनय और आत्म-समान की भावना का सामञ्जस्य अति दुष्कर होते हुए भी आवश्यक है, इसी अभिप्राय को नीचे प्रकट किया गया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च विनयेन निवार्यताम् ।
आशावादेन नैराश्यमात्मसंमाननेन च ॥३९॥

बुद्धिमान् मनुष्य को दम्भ, दर्प और अभिमान का वारण विनय से, और नैराश्य का वारण आशावाद से तथा आत्मसमान की भावना से करना चाहिए ।

---

१ तु० "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत ।" (ऐतरेयोपनिषद् १।१-२) ।

लोकं तृणाय मन्यन्ते येऽभिमानेन हेतुना ।
नूनं ते करुणापात्रं मन्दा मोहवशं गता ॥४०॥

जो अभिमान के कारण दूसरो को तृण के समान तुच्छ समझते हैं, वे निश्चय ही करुणा के पात्र हैं, क्योकि मोह (अज्ञान) के कारण वे मन्द-प्रज्ञ वास्तविकता को नही समझ पाते ।

विनयेन विना चीर्णमभिमानेन संयुतम् ।
महच्चापि तपो व्यर्थमित्येतदवधार्यताम् ॥४१॥

यह समझ लेना चाहिए कि विनय के बिना और अभिमान के साथ किया हुआ महान् भी तप व्यर्थ ही होता है ।

[८]

यतमानस्य भावानां संशुद्धयै शान्तचेतस ।
कस्यापि श्रद्दधानस्याभिलाषोऽध प्रदर्श्यते ॥४२॥

नीचे की रचना मे किसी ऐसे शान्तचित्त श्रद्धालु व्यक्ति की अभिलाषा को दिखलाया गया है जो अपने भावो की पवित्रता के लिए यत्नशील है—

मन की पुष्पवाटिका

"तन्मे मन. शिवसंकल्पमस्तु" (यजुर्वेद ३४।१) ।

अर्थात्, मेरे मन के सकल्प कल्याणमय हो ।

अध्यात्म-विकास के मार्ग पर चलने वाला मनुष्य विशुद्ध भावनाओ से युक्त अपने मन को ही अपनी सपत्ति समझता है । इस लिए वह अपने मन की पवित्रता को वैसा ही आवश्यक मानता है, जैसे कोई अपनी पुष्पवाटिका को साफ-सुथरा और हर प्रकार से रम्य और शोभनीय रखना चाहता हो । इसी का वर्णन मानसी पुष्पवाटिका के रूप में नीचे के पद्यो में किया गया है—

उत्तुङ्गादर्शवृक्षाणामावल्या परितो वृता।
सदाशयसरोभिश्च सद्भावकुसुमैश्चिता ॥४३॥
उद्वेगोपद्रवैः शून्या निरस्ताशेषकल्मषा।
प्रसन्नतापरागैश्च रञ्जिताखिलभूतला ॥४४॥
कल्याणकामनाकान्त्या कमनीया चतुर्दिशम्।
स्वच्छा स्वच्छतलादर्शप्रख्या शोभातिशायिनी ॥४५॥
सूक्तिपक्षिसमूहानामारावैरुपकूजिता।
शान्तेर्निकेतनं मे स्यान् मानसी पुष्पवाटिका ॥४६॥

उत्कृष्ट आदर्श रूपी ऊँचे वृक्षो की आवलि
से चारो ओर घिरी हुई,
सदाशय रूपी सरोवरो से तथा
सद्भाव रूपी कुसुमो से व्याप्त,
उद्वेग रूपी उपद्रवो से शून्य, और
सब प्रकार के पाप रूपी मैल से रहित,
प्रसन्नता रूपी परागो से जिसकी
सारी धरती रञ्जित है,
कल्याण-कामना रूपी कान्ति से
चारो दिशाओ मे कमनीय,
स्वच्छ-तल दर्पण के समान स्वच्छ,
अत्यधिक शोभा से युक्त,
सूक्ति-रूपी पक्षि-समूह के
शब्दो से उपकूजित,
मेरे मन की ऐसी फुलवाड़ी
शान्ति का निकेतन हो।

भद्र भावनाओ के आधार पर ही भावसशुद्धि हो सकती है। इस लिए अभद्र भावनाओ को हटा कर ही वह स्थिति पा सकती है। सो यह कैसे हो सकता है, इसी का युक्तिसहित प्रतिपादन नीचे किया गया है—

[९]

अभद्र भावो का अपनोदन

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ।" (यजुर्वेद ३०।३)

अर्थात्, विश्व को प्रेरणा प्रदान करने वाले हे देव ! सारी बुराइयो का, दुर्भावनाओं को, हमसे दूर कीजिए, और जो भद्र है, कल्याण-प्रद है, उसे हमें प्राप्त कराइए ।

विहायानिष्टमिष्टार्थे आसक्तिरुपलभ्यते ।
इन्द्रियाणा स्वभावेन परेशानुग्रहो ह्ययम् ॥४७॥

अरोचकमभद्रं यद् वस्तु तस्माद्विरज्यते ।
प्रत्येकमिन्द्रियं भद्रं रोचकञ्चानुधावति ॥४८॥

परमाश्चर्यमेतस्य प्रतिकूला परिस्थिति. ।
दृश्यते मानसे लोके येन दु खाकुलं जगत् ॥४९॥

यह परमेश्वर का अनुग्रह है कि इन्द्रियो की स्वभाव से ही आसक्ति अनिष्ट अर्थं को छोडकर इष्ट अर्थ में पायी जाती है ।

प्रत्येक इन्द्रिय जो अरोचक और अभद्र है उससे विरक्त होकर जो वस्तु रोचक और भद्र है उसी का अनुसरण करती है ।

पर यह आश्चर्य की वात है कि मानस लोक की स्थिति इससे उलटी देखने मे आती है, जिससे जगत् दु खो से व्याकुल है ।

मनः स्वभावतो नूनं तत्तद्भावेषु साग्रहम् ।
दुःखदेष्वपि संसक्तमिति कस्य तिरोहितम् ॥५०॥

प्रसङ्गेष्वथ भावेषु यस्मात्क्लेशकरेष्वपि ।
आग्रहेणेव संसक्तं मनः कस्य न जायते ? ॥५१॥

भावा भद्रा अभद्राश्च मनःस्वाविर्भवन्ति न ।
भद्राः सुखकरास्तत्राभद्रा दुःखकरा मताः ॥५२॥

तथापि महदाश्चर्यमपि जानच्छुभाशुभम् ।
मनो नोऽभद्रभावेषु सक्तं प्रायेण जायते ॥५३॥

शोकेन मन्युना वा स्यात्कामलोभवशात्तथा ।
अभद्रभावनौघैस्तद् दुःखमापद्यतेऽसकृत् ॥५४॥

अभद्रभावनावर्तभ्रमिभिर्भ्रान्तचेतनम् ।
भद्रभावैरसंस्पृष्टं दूरे तिष्ठति तत्सदा ॥५५॥

यह किससे छिपा है कि मन स्वभाव से ही दुःख देने वाले भी तत्तद् भावो में आग्रहपूर्वक फँसा हुआ रहता है ।

भला ऐसा कौन है जिसका मन क्लेश देने वाले प्रसङ्गो अथवा भावो में, मानो आग्रह-पूर्वक, ससक्त नही हो जाता है ।

हमारे मनो मे भद्र तथा अभद्र दोनो प्रकार के भाव आविर्भूत होते हैं । उनमे भद्र भाव सुखकर होते हैं और अभद्र भाव दुःखकर ।

तो भी यह बड़े आश्चर्य की बात है कि शुभ और अशुभ के भेद को जानते हुए भी हमारा मन प्रायेण अभद्र भावो मे फँस जाता है ।

शोक से, मन्यु से, अथवा काम और लोभ के वश से वह मन बार बार अभद्र भावनाओ के प्रवाह मे पड़कर दुःख पाता है ।

अभद्र भावनाओ के आवर्त (भँवर) के चक्करो से चेतना को खोकर, भद्र भावो से असस्पृष्ट रहता हुआ, वह (मन) उनसे सदा दूर ही रहता है ।

तदेतत्सकलं वृत्तं मोहव्याधिसमुद्गतम् ।
हिताहितविवेकेन हीना मूढा भवन्ति वै ॥५६॥

कृपया देवदेवस्य जागरूकं निरन्तरम् ।
मोहपाशाद्विनिर्मुक्तं भद्रभावनया भृशम् ॥५७॥

इहैव सततं लोक आशावादसमुज्ज्वलम् ।
आनन्दपथमव्यग्रं मनो नो गन्तुमर्हति ॥५८॥

एकस्मिन्हि क्षणे भावद्वयं नैवावतिष्ठते ।
स्वभाव एष मनस, सौभाग्यं तन्महद्धि न. ॥५९॥

तस्मादभद्रभावानामपनोदाय मानव ।
साहाय्यं भद्रभावाना सद्य संप्राप्तुमर्हति ॥६०॥

असमूढमनास्तिष्ठंस्तस्माद्विद्वान् निरन्तरम् ।
दु खप्रवाहमुत्तीर्यानन्दधारामुपाश्रयेत् ॥६१॥

सो यह सारा वृत्त मोह रूप व्याधि से उत्पन्न होता है। क्योकि जो मूढ होते हैं वे हित और अहित के विवेक से रहित ही होते है।

परन्तु देवो के देव परमेश्वर की कृपा से निरन्तर जागरूक, मोह के पाश से मुक्त और आशावाद से समुज्ज्वल हमारा मन, तीव्र भद्र-भावना के सहारे, इसी लोक मे निर्विघ्न रूप से आनन्द के मार्ग पर सतत अग्रसर हो सकता है।

मनका यह स्वभाव है कि एक ही क्षण मे दो भाव एक साथ उसमें नही रह सकते। यह हमारा बडा सौभाग्य है।

अत मनुष्य अभद्र भावो को हटाने के लिए भद्र भावो की सहायता तत्काल प्राप्त कर सकता है।

इस लिए विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि वह, निरन्तर मोहावस्था से अपने मन को पृथक् रखते हुए, दु ख के प्रवाह को पार करके आनन्द की धारा का आश्रय लेवे।

[१०]

परमात्मा की अनुकम्पा

उक्त कथन का ही प्रतिपादन दूसरे शब्दो मे नीचे किया गया है—

यदा केनापि भावेन समुद्विग्नं मनो भवेत् ।
तदा तद्विपरीतेन तस्योपायो विधीयताम् ॥६२॥
स्वभावादेव मनसो ज्ञानं न युगपद्भवेत् ।
विधातुरनुकम्पेयं महतीत्यवधार्यताम् ॥६३॥
तत्तच्चिन्ताविदीर्णोऽयं तदभावे तु मानव: ।
भुञ्जानो नारकी पीडा जीवनाद्विरतो भवेत् ॥६४॥
तत एव महीयासो मनस: संयमं महत् ।
रहस्यं जीवनस्याहु: सफलस्य तथा कलाम् ॥६५॥

जब किसी भाव से मन उद्विग्न हो, तब उससे जो विपरीत भाव है उसके द्वारा उसको हटा देना चाहिए ।

स्वभाव से ही मन को एक साथ अनेक ज्ञान नही होते ।[१] इसको परमेश्वर की महती अनुकम्पा ही समझना चाहिए ।

यदि ऐसा न होता तो तत्तत् चिन्ताओ से दु:खातुर मनुष्य नरक की जैसी पीडाओ का अनुभव करता हुआ अपने जीवन से ही उदासीन हो जाता ।

इसी लिए महान् पुरुष मन के सयम को जीवन का महान् रहस्य तथा सफल जीवन की कला भी कहते हैं ।

---

१. तु० "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्यायसूत्र १।१।१६)

भाव-सशुद्धि का चरम विकास विश्व-कल्याण-भावना मे होना चाहिए। इस लिए नीचे वैदिक पद्धति में उसी का वर्णन किया जाता है—

[११]

विश्वकल्याण-भावना

"भद्रं नो अपि वातय मन"। (ऋग्वेद १०।२०)

अर्थात्, भगवन्! हमरे मन को भद्रभावना की ओर प्रेरित कीजिए।

भद्रं भद्रं सर्वतो न समेयाद्, भद्रा वाच सुमनसो वदेम।
भद्रं मनो भद्रकामाय भूयात्, कामे कामे नो भद्रं विरोचताम् ॥६६॥

हमे सब ओर से केवल भद्र अथवा कल्याण ही प्राप्त होवे।
हम सद्भावनाओ से युक्त होकर कल्याणमय वाणी को ही बोलें।
विशुद्ध विचारो से युक्त हमारे मन की कामनाएँ भी कल्याणमय हो।
हमारी प्रत्येक कामना मे कल्याण का प्रकाश हो।

ग्रामे ग्रामे नो भद्रं विराजताम्, भासता भद्रं समितौ सभायाम्।
भद्रं राज्येषु विश्वत समृद्धयाद्, भद्रं पृथिव्या प्रथता समन्तात् ॥६७॥

हमारे ग्राम-ग्राम में भद्र-भावना सुशोभित हो।
हमारी समितियो और सभाओ में उसका प्रकाश हो।
राज्यो मे सब ओर से भद्रभावना की वृद्धि हो।
और इस प्रकार समस्त पृथ्वी पर उसका विस्तार हो।

परस्परं भद्रं समाचरन्तो, न मायिनो मानुषीणा प्रजानाम्।
आतन्वन्त. शिवतार्ति वरिष्ठाम्, इहैव लोकेऽमृतमाभजेम ॥६८॥

हम निश्छल भाव से
परस्पर कल्याण का आचरण करते हुए
और मानव-मात्र के लिए श्रेष्ठ मङ्गल का विस्तार करते हुए
इसी लोक मे अमृतत्व का सेवन करें।

विप्राः कवयो भद्रवाचो भवन्तो, भद्रं राजानो राज्यधुरं वहन्तः।
भद्रं गुरौ शिक्षमाणा वसन्तो, भद्रं वयं सर्वत आवदेम ॥६६॥

हमारे कवि सात्त्विक विचारो से युक्त होकर
कल्याणमय वाणी का प्रसार करने वाले हो !
शासक लोक-कल्याण के आदर्श से प्रेरित होकर राज्य का शासन करें !
गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध भी कल्याणमय हो !

इस प्रकार हम सब अपने चारो ओर कल्याण का ही वातावरण उपस्थित कर दें ।

भद्रं न करोत्वनिशमन्तरिक्षं, भद्रं नो वायु पवमान. प्रवातु।
भद्रं भद्रं द्यावापृथिव्यौ भवेताम्, भद्रं मरुतो वृष्टिवाहा भवन्तु ॥८०॥

अन्तरिक्ष हमारे लिए सतत कल्याणकारी हो !
पवित्रताधायक वायु हमारे लिए कल्याणकारी होकर चले !
द्युलोक और पृथिवी-लोक हमारे लिए सदा मङ्गलकारी हो !
मरुद्गण भी वृष्टि द्वारा विश्व का कल्याण करें !

॥ इति जीवनज्योतिषि भावसशुद्धिर्नाम अष्टमो रश्मि. ॥

नवमो रश्मिः

मनः-प्रसादः

विश्वदानीं सुमनसः स्याम । (ऋग्वेद ६।५२।५)

पश्य देवस्य काव्यम् । (सामवेद पू० ८।८।३)

●

नवम रश्मि

मनः-प्रसाद

हम सर्वदा प्रसन्न चित्त रहें ! (ऋग्वेद ६।५२।५)

तुम प्रकृति-देवी के सौन्दर्य को, जो मूर्त-रूप में परमात्मा का काव्य है, देखो और उससे प्रसन्नता को प्राप्त करो । (सामवेद, पू० ८।८।३)

मनः-प्रसाद

नर उवाच

श्रुत्वेदं भावसंशुद्धेर्महत्त्वं भगवन्मया ।
आत्मतुष्ट्या महैवाद्य लब्धा काचित्कृतार्थता ॥ १ ॥

किं फलं भावसंशुद्धेर्मानवेनानुभूयते ।
यत्प्रेप्सया प्रवर्तेत स यत्नेन तदर्जने ॥ २ ॥

उपदेशैरतृप्तस्य जिज्ञासेयं ममोदिता ।
कृत्वा कृपां दयासिन्धो तामपनेतुमर्हसि ॥ ३ ॥

नर ने कहा

भगवन् ! भाव-संशुद्धि के उक्त महत्त्व को सुनकर आत्म-तुष्टि के साथ-साथ मैं एक प्रकार से कृतार्थता का भी अनुभव कर रहा हूँ ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मानव को भाव-संशुद्धि से क्या फल प्राप्त होता है, जिसकी इच्छा से उसे उसके अर्जन में प्रवृत्त होना चाहिए ?

दयासिन्धो ! (आप के) उपदेशों से मेरी तृप्ति न होने से यह जिज्ञासा मेरे मन में उत्पन्न हुई है । कृपा करके आप उसका समाधान कीजिए ।

नारायण उवाच

मन प्रसादसंपत्तिर्भावशुद्धेरनन्तरम् ।
प्राप्यते, जायते तेन कृतकृत्योऽत्र मानवः ॥ ४ ॥

कल्मषापगमे चित्तं शुभ्रज्योतिरिवामलम् ।
भासते येन लेशोऽपि क्लेशाना विनिवर्तते ॥ ५ ॥

तदा तदमृतं पुण्यं जीवन्नाप्नोति तत्त्ववित्।
शान्त्यानन्दमयी दृष्टिस्तस्य सर्वत्र जायते ॥ ६ ॥

"विश्वदानी सुमनस." श्रुतिरेषा सनातनी।
मन:प्रसादमाहात्म्यं स्पष्टं ब्रूते न संशय. ॥ ७ ॥

मन.प्रसादसंपत्तेः स्वरूपं कीदृशं मतम्।
कथं चैवार्जनं तस्या मानवः कर्तुमर्हति ? ॥ ८ ॥

बाधाः कास्तत्प्रतीकार कैरुपायै' प्रसाध्यते।
सर्वमेतत्समाख्यातुमध' किञ्चित् प्रयत्यते ॥ ६ ॥

श्रीनारायण ने कहा

भावसंशुद्धि के हो जाने पर मन.प्रसाद की सपत्ति मनुष्य को प्राप्त हो जाती है। उससे वह इस जीवन मे कृतकृत्य हो जाता है।

कल्मष अथवा दुष्ट भावनाओ के हट जाने पर चित्त निर्मल होकर शुभ्र ज्योति के समान भासित हो जाता है। इससे क्लेशो का लेश-मात्र भी उसे सन्तप्त नही करता।

उस दशा में तत्त्वज्ञानी जीते जी सुप्रसिद्ध पवित्र अमृतत्व का लाभ कर लेता है। तब उसकी दृष्टि सर्वत्र शान्तिमयी और आनन्दमयी हो जाती है। अर्थात् वह सर्वत्र शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है।

"विश्वदानी सुमनस" (ऋग्वेद ६।५२।५) (अर्थात्, हम सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहे !) यह सनातनी श्रुति स्पष्टतया मन.प्रसाद के महत्त्व का वर्णन करती है। इसमे कोई सन्देह नही है।

मन प्रसाद-रूप सपत्ति का स्वरूप कैसा है ? तथा मनुष्य उसका अर्जन कैसे कर सकता है ?

उसकी प्राप्ति मे कौन-कौन सी बाधाएँ आती हैं ? उनका प्रतीकार किन-किन उपायो से किया जा सकता है ? नीचे हम इन्ही प्रश्नो के समाधान करने का यत्न करेंगे।

[१]

प्रसादनी शक्ति

"यथा न सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्"

(यजुर्वेद १६।४)।

अर्थात्, हमारी जीवनचर्या ऐसी हो जिससे यह सारा जगत् हमको व्याधियो से बचाकर प्रसन्नता देनेवाला हो।

भगवान् की प्रसादनी शक्ति सारे विश्व मे व्याप्त है। हम सदा उसका अनुभव कर सकें। इसी भावना का वर्णन नीचे के पद्यो मे किया गया है—

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता।
येयं प्रसादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता ॥१०॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावली।
सहजस्नेहमूर्त्तीना साधूनामाननेषु वा ॥११॥
पित्रो प्रेमलतापुष्पीभूते रम्ये च शैशवे।
सेयमाविर्भवेत् शश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे ॥१२॥

लोकोत्तर दिव्य माधुर्य से समन्वित,
जो प्रसादनी शक्ति
सृष्टि मे सर्वत्र—
सूर्य मे, चन्द्रमा में, जल मे, वायु मे,
प्रफुल्ल कुसुमावलि में,
अथवा सहज स्नेह के मूर्त्ति रूप
साधुओ के मुखमण्डलो पर,
यद्वा माता-पिता की प्रेमलता के
पुष्प-रूप सुन्दर शैशव में—
संस्थित है, वह आविर्भूत होकर
सर्वदा मेरे मन में वास करे।

[२]

दिव्य शान्ति

"सा मा शान्तिरेधि" (यजुर्वेद ३६।१७)।

अर्थात्, जो शान्ति सर्वत्र विश्व में फैली हुई है वह मुझे प्राप्त हो !

येयं शान्तिकला दिव्या लोकाना शान्तिदायिनी।
चन्द्रेऽपि चारुता धत्ते सा मे नित्यं प्रकाशताम् ॥१३॥

जो दिव्य शान्ति-कला
लोक-लोकान्तरो को शान्ति देती है
और चन्द्रमा मे भी हृदयाह्लादिनी
मधुरिमा को स्थापित करती है
वह मेरे लिए सदैव प्रकाशित हो !

[३]

प्रकृति-माता की गोद में !

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते।
·· ···· तत्र माममृतं कृधि ·· ··· (ऋग्वेद ९।११३।११)।

अर्थात्, भगवन् ! मुझे सदा आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मन स्थिति मे रखिए !

प्रकृतेर्मातृभूताया क्रोडे क्रीडन्ननारतम् ।
लालित. पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१४॥

स्नेहार्द्रं नित्यसंस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम् ।
दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१५॥

प्रकृति-माता की गोद में
सदा क्रीडा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्द मे रहता हूँ ।
उसके स्नेह मे आर्द्र, नित्य रहने वाले,
अद्भुत माधुर्य को देखकर,
मानो अमृत को पीकर,
मै सदा आनन्द मे रहता हूँ ।

[४]

हृदयोल्लास

"ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति" (ऋग्वेद ४।२३।८) ।

अर्थात्, प्राकृतिक नियमो का परिज्ञान तथा अनुसरण मनुष्य के हृदय की मलिनता और अनुत्साह को दूर करता है ।

मनुष्येण विना कश्चिदन्य प्राणी न विद्यते ।
यस्य दृष्टावियं सृष्टिरुल्लासाय न जायते ॥१६॥

मनुष्य को छोड़कर कोई दूसरा प्राणी ससार में ऐसा नही है जिसकी दृष्टि में यह सृष्टि उल्लास और प्रसन्नता करने वाली न हो ।

पक्षिण· पशवो वापि मनुष्यैर्न वशीकृताः।
क्रीडन्त इव दृश्यन्ते सृष्टेर्दृश्यैरनेकशः ॥१७॥

मनुष्य के वश में न आये हुए पक्षी और पशु भी सृष्टि के विभिन्न दृश्यो से मानो खेलते हुए देखे जाते हैं।

स्वागतं ननु सोत्कण्ठा· कुर्वन्तोऽह्मुखस्य ते।
प्रातरुत्थाय कूजन्त· पक्षिण· केन न श्रुताः ? ॥१८॥

प्रात उठकर कोमल मधुर शब्द करते हुए, मानो उत्कण्ठा के साथ प्रभात का स्वागत करते हुए, पक्षियो को किसने नही सुना है ?

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य धावन्त उल्लासेनावशा इव।
अरण्येषु मृगा. केन न दृष्टा मोदनिर्भरा ? ॥१९॥

हर्ष और आनन्द से मानो आपे से बाहर होकर, जंगलो मे उछल-उछल कर दौड़ते हुए, आनन्द से विभोर मृगो को किसने नही देखा है ?

प्राणिना बुद्धिजीवित्वात् तिष्ठतां मूर्ध्नि सर्वथा।
दुर्दशेयं मनुष्याणा कुत एतद्विचिन्त्यताम् ॥२०॥

बुद्धिजीवी होने के कारण मनुष्यो का स्थान सर्वथा सब प्राणियो मे ऊँचा है। फिर भी मनुष्यो की यह दुर्दशा क्यो है ? इस पर हमें विचार करना चाहिए।

प्रकृत्या सह संपर्कं त्यक्त्वा स्वास्थ्यैककारणम्।
इन्द्रियार्थेषु लोलाना तेषामेषा नु दुर्दशा ॥२१॥

ऊपर के प्रश्न का उत्तर यही है कि स्वास्थ्य और प्रसन्नता का मुख्य कारण है—प्रकृति के साथ सपर्क अथवा प्राकृतिक जीवनचर्या। पर मनुष्यो ने इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त होकर उस सपर्क को छोड दिया है। उनकी वर्तमान दुर्दशा का (जिसमे उन्हे सृष्टि के प्राकृतिक दृश्यो में उल्लास नही प्रतीत होता) यही कारण है।

[५]

जीवन में स्वर्गीय सुख

"देवाना सख्यमुप सेदिमा वयम्" (१।८६।२)।

अर्थात्, हम देवताओ के सख्य को प्राप्त करें ।

अग्नि, वायु, सूर्य आदि के रूप मे सृष्टि को चलाने वाली प्राकृतिक शक्तियो को 'देवता' और प्राकृतिक जीवन को ही 'देव-सग्य' अथवा 'यज्ञ' (=देव-सगति) इन शब्दो से वेदो में कहा गया है । उन्ही देवताओ तथा उनके साथ सख्य (=देवसख्य) की महिमा का वर्णन नीचे के पद्यो मे किया गया है—

निधानं सर्वरत्नाना हेतु. कल्याणसंपदाम् ।
सर्वस्या उन्नतेर्मूलं महतां सङ्ग उच्यते ॥२२॥

महान् पुरुषो का सग समस्त उत्कृष्ट अमूल्य पदार्थों का आश्रय, कल्याण-सपत्तियो का हेतु और सारी उन्नति का मूल कहा जाता है ।

नीचे देवताओ के महत्त्व को और उनके साथ सखिभाव की आवश्यकता को बतलाते हैं—

सातत्येन स्वकर्तव्यपालने ये दृढव्रता. ।
स्वार्थबुद्धया न संपृक्ता परोपकरणे रताः ॥२३॥
विश्वसंचालने भागं संजानाना उपासते ।
अनादिनिधना नूनमस्मद्दृष्टया न संशयः ॥२४॥
ते देवा वेद आम्नाता महद्भ्योऽपि महत्तरा ।
विश्वस्मादंहसोऽस्माकं त्रातारो ये सुदानव ॥२५॥
सायुज्यमथ सारूप्यं सालोक्यमपि वा पुन. ।
वस्तुत सखिभावश्च तैः सहास्माभिरिष्यताम् ॥२६॥

जो सर्वदा अपने कर्तव्यो के पालन में दृढव्रत हैं,

स्वार्थ-बुद्धि से सपृक्त न होकर परोपकार मे रत हैं,

परस्पर सामनस्य रखते हुए विश्व के सचालन में अपने-अपने भार को वहन करते है,

हमारी दृष्टि से निस्सन्देह आदि और अन्त से रहित है,
बडो से भी बडे, सारे पापो से हमको बचाने वाले और अच्छे दानी हैं,
वेद में ऐसे ही देवताओ का वर्णन किया गया है।

उन्ही के साथ हमें एकीभाव, सरूपता, सलोकता और वास्तविक सखिभाव की इच्छा करनी चाहिए।

नीचे देवताओ के नियमो के अनुकूल जीवन की महिमा को बतलाते हैं—

देवाना नियमानाहुर्ऋतशब्देन पण्डिताः।
अस्माकं जीवनस्यापि व्यापारास्तैर्नियन्त्रिताः॥२७॥

देवाना सुमतौ तिष्ठन् सर्वभावेन सर्वदा।
जीवन्नेव नरो नूनं सुखं स्वर्ग्यं समश्नुते॥२८॥

देवताओ के नियमो को पण्डित 'ऋत' शब्द से कहते हैं।
उन्ही नियमो से हमारे जीवन के व्यापार भी नियन्त्रित है।
पूरे प्रयत्न से सर्वदा देवताओ के नियमो की अनुकूलता मे रहने वाला
मनुष्य जीता ही अवश्य स्वर्गीय सुख को प्राप्त कर लेता है।

सत्सङ्गतेर्महत्त्वं यद् उच्चैराहुर्मनीषिणः।
वस्तुतस्तस्य सार्थक्यं जायते देवसंगतौ॥२९॥

मनीषी लोग सत्सगति के महत्त्व की
जो विशेष चर्चा करते है,
उसकी सार्थकता वस्तुत
देव-सगति मे ही होती है।

देवसंगतिरेवैषा सर्वकामदुघा नृणाम्।
ऋषिभिर्यज्ञशब्देन श्रुत्यादिषु निगद्यते॥३०॥

यही देवसगति मनुष्यो को
समस्त कामनाओ को पूर्ण करने वाली है।
वेद आदि मे ऋषियो द्वारा 'यज्ञ' शब्द से
वास्तव में देव-सगति का ही कथन किया गया है।

[६]

लोकसेवा

"पुमान् पुमासं परि पातु विश्वत." (ऋग्वेद ६।७५।१४)।

अर्थात्, एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यो का मुख्य कर्तव्य है ।

सुगन्धि दर्शनीयं च लोकरञ्जनतत्परम् ।
दृष्ट्वा कुसुममारामे सर्वैरप्यभिनन्दितम् ॥३१॥

प्रसादसुमुख शीलचारित्र्याभ्या सुवासितः ।
उद्युक्तो लोकसेवाया भवेयमिति भावये ॥३२॥

उपवन में सुगन्धित, सुन्दर, सब लोगो के रञ्जन मे तत्पर
और साथ ही सब के द्वारा अभिनन्दित पुष्प को देखकर,
मेरे मन मे आता है कि
मुझे भी प्रसन्न-मुख, शील और चारित्र्य के सुगन्ध से वासित
तथा लोक-सेवा में तत्पर होना चाहिए ।

[७]

परमेश्वर की प्रसन्नता

"तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम"

(ऋग्वेद ३।५९।४)

अर्थात्, हम पूजनीय परमेश्वर की अनुकूलता और कल्याणप्रद प्रसन्नता को प्राप्त करें ।

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
नियन्त्रितं जगत्कृत्स्नं सर्वानुग्रहहेतवे ॥३३॥

तत्रासक्तिं परित्यज्य कर्तव्यं कर्म कुर्वत ।
प्रभोः प्रसादनायैव व्यग्रता निष्प्रयोजना ॥३४॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा ने कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा, सब के कल्याणार्थ, सारे जगत् को नियन्त्रित कर रखा है ।

ऐसी स्थिति मे कर्म-फल मे आसक्ति को छोडकर जगत्प्रभु ईश्वर की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही अपने कर्तव्य कर्म को करने वाले के लिए व्यग्रता या चित्त की व्याकुलता नितरा व्यर्थ है ।

[८]

व्यग्रता की व्यर्थता

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" (ऋग्वेद ६।७५।१९) ।

अर्थात्, परमात्मा का विश्वास ही मेरा आन्तरिक कवच है ।

त्वमेव त्वत्प्रियो वापि वर्तते कष्टसन्ततौ ।
यदा, तदा परीक्षाया कालोऽस्तीति विभाव्यताम् ॥३५॥

जब तुम या तुम्हारा कोई प्रियजन आपत्तियो में फँसा हो, तब 'यह परीक्षा का समय है' ऐसा सोचना चाहिए ।

कुर्वंस्तदा यथाशक्ति प्रतीकारमधीरताम् ।
व्यग्रता वाप्यविश्वासं मा भजेथा परात्मनि ॥३६॥

उस समय यथाशक्ति आपत्तियो का प्रतीकार करते हुए अधीरता, व्यग्रता अथवा परमात्मा में अविश्वास को अपने पास न आने दो ।

कुर्वती चित्तविक्षोभमात्मदौर्बल्यमेव च ।
कार्यसिद्धेर्विघातं च व्यग्रता निष्प्रयोजना ॥३७॥

चित्त-विक्षोभ, आत्म-दुर्बलता और कार्य-सिद्धि में विघात करने वाली व्यग्रता से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

नद्यावर्त्तेन ग्रस्तो यन् त्यक्तधैर्यो भवेन्नरः ।
त्रातुं शक्तः स नात्मानं परं वापीति दृश्यते ॥३८॥

देखने में आता है कि नदी के भँवर में फँसा हुआ मनुष्य यदि धैर्य को छोड़ देता है तो न तो वह अपनी रक्षा कर सकता है, न दूसरे की ।

[९]

अपना मूल्य

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५) ।

अर्थात्, अपने ही कारण सब पदार्थ हमको प्रिय होते हैं ।

अर्थो वापि पदं वापि लोकैर्यदभिलष्यते ।
तदर्थं यत्नमातिष्ठेद् यावच्छक्ति सुधीर्नरः ॥३९॥
परं तदनवाप्तिश्चेन् नात्मानमवसादयेत् ।
नूनं तन्मूल्यमल्पीय आत्मनोऽपेक्षया मतम् ॥४०॥

लोग जिसकी अभिलाषा रखते हैं ऐसे पदार्थ या पद की प्राप्ति के लिए बुद्धिमान् मनुष्य को यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए ।

परन्तु यदि वह पद या पदार्थ उसे प्राप्त न हो तो उसे अपने को खिन्न न होने देना चाहिए, क्योंकि उस पदार्थ या पद का मूल्य जिसको वह चाहता है उसकी अपनी अपेक्षा कम ही माना जाता है । अर्थात्, उसका अपना मूल्य उस पद या पदार्थ के मूल्य से कहीं अधिक होता है, क्योंकि पद या पदार्थ उसके लिए होते हैं, न कि वह उनके लिए ।

मनुष्य का अपना वास्तविक महत्त्व कितना बड़ा है, इसका प्रतिपादन नीचे किया गया है—

निधानं सर्वशक्तीनां तेजस्तेजस्विना तथा।
नात्मानमवमन्येथा आतर्मोहवशं गतः ॥४१॥

अयि भाई! अज्ञान-वश होकर अपनी आत्मा का अपमान न करो, जो सारी शक्तियो का आश्रय है और सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थो का तेज है।

यदेतदान्तरं ज्योति. सर्ववस्तुप्रकाशकम्।
भोक्तृ यच्चापि लोकाना तदहं नात्र संशय. ॥४२॥

जो तत्त्व इस आभ्यन्तर ज्योति के रूप में सारी वस्तुओ का प्रकाशक है और लोको का भोक्ता है, मैं वही हूँ, इस विषय मे कोई संदेह नही है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा ही सब वस्तुओ का द्रष्टा और उपभोक्ता है। अर्थात्, आत्मा के कारण ही उनके अस्तित्व और महत्त्व का अर्थ समझा जा सकता है।

[१०]

रात्रि के पश्चात् प्रभात होता है

लोकेऽत्र जीवनमिदं परिवर्तशीलं
दृष्ट्वा विभावय सखे! ध्रुवसत्यमेतत्।
"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्री."[1] ॥४३॥

ससार मे यह जीवन परिवर्तन-शील है, यह देखकर,
अयि मित्र! इस ध्रुव सत्य का सदा ध्यान रखो कि
'रात्रि बीत जायगी, प्रात काल होगा, सूर्यदेव का उदय होगा,
और कमलो की लक्ष्मी खिलकर हँस उठेगी'।

अर्थात्, आपत्ति के समय का अन्त अवश्य होगा और अच्छा समय लौटेगा, इसका विश्वास सबको रखना चाहिए।

---

१. तु० "उदयान्ता च शर्वरी। दु खस्यान्त सदा सुखम्" (महाभारत, आश्वमेधिक पर्व ४४।१८)

"धैर्यं निधाय मनसि प्रतिपालयेदं
निस्संशयं क्षणमिव क्षणादावसानम् ।
प्रत्यूष एव भवतोऽभिमतार्थसिद्धे-
र्द्वारं भविष्यति विसंघटितापिधानम्" ॥४४॥

मन मे धैर्य रखकर, एक क्षण के समान, नि संशय होने वाले
रात्रि के अवसान (अर्थात् रात्रि की समाप्ति) की तुम प्रतीक्षा करो ।
पौ फटते ही तुम्हारे अभिमत अर्थ की
सिद्धि का द्वार खुल जायगा ।

[११]

मनःप्रसाद

"विश्वदानी सुमनस स्याम" (ऋग्वेद ६।५२।५) ।

अर्थात्, हम सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहें ।

नानाधिव्याधिखिन्नेभ्यो मानवेभ्य. परात्मना ।
मन·प्रसादरूपोऽयं प्रसादो नूनमर्पित ॥४५॥

नाना प्रकार की आधियो और व्याधियो से खिन्न मनुष्यो के लिए परमात्मा ने मन प्रसाद (= मन की प्रसन्नता) रूपी प्रसाद प्रदान किया है ।

यथा सूर्योदये प्रातर् ध्वान्तं धावति दूरत ।
तथा मन.प्रसादेन सर्वा वाधा प्रशाम्यति ॥४६॥

जैसे प्रात काल सूर्योदय के होते ही अन्धकार दूर भाग जाता है, वैसे ही मन प्रसाद से सारी बाधायें शान्त हो जाती है ।

प्रत्यक्षं देवता ह्येषा सद्य कल्याणकारिणी ।
जयाय सर्वलोकानाममोघो मन्त्र एव वा ॥४७॥

मन प्रसाद को प्रत्यक्ष देवता ही समझना चाहिए जो अपने उपासक का तत्काल कल्याण करने वाली है । अथवा, सब लोगो पर विजय प्राप्त करने के लिए इसको अमोघ मन्त्र ही समझना चाहिए ।

कर्तव्यमिदमस्माकं प्रथममवधार्यताम् ।
सर्वदा सर्वथा तस्य परिरक्षा विधीयताम् ॥४८॥

हमारा यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि हम मन प्रसाद की सब प्रकार से सदा रक्षा करें ।

आगे उसकी रक्षा के उपायो को बतलाते हैं—

'अस्मद्धिताय संसृष्टा सृष्टिरेषा परात्मना ।'
मन·प्रसादरक्षायै चिन्तनीयं मुहुर्मुहु ॥४९॥

'यह सृष्टि परमात्मा ने हमारे हित के लिए ही रची है' मन.प्रसाद की रक्षा के लिए बार-बार यही सोचना चाहिए ।

साथ ही,

सत्यं दमोऽनसूया च बुद्धिर्लोकहितैषिणी ।
उपायास्तस्य रक्षाया अभियुक्तै. प्रकीर्तिता: ॥५०॥

प्रामाणिक विद्वानो ने सत्य, दम (इन्द्रिय-सयम), अनसूया (= ईर्ष्या न करना) और ससार के हित को चाहने वाली बुद्धि—इन उपायो को भी मन प्रसाद की रक्षा के लिए बतलाया है ।

[१२]

चिन्ता और कर्तव्यपालन

"विश्वाहा वयं सुमनस्यमाना." (ऋग्वेद ६।७५।८) ।

अर्थात्, हम सदा ही अपने को प्रसन्न रखें ।

जनस्य वस्तुनो वापि विषये योपजायते ।
चिन्ता सा निष्फला नूनमात्मसन्तापकारणम् ॥५१॥

किसी प्रियजन या वस्तु के विषय मे जो चिन्ता की जाती है, वह निश्चय ही निष्फल होती है और उससे आत्मा को सन्ताप ही होता है ।

तस्माच्चिन्तास्थले चित्तप्रसादेन विशुद्धधीः ।
कर्तव्यमाचरंस्तिष्ठेदात्मवान् धैर्यसंयुतः ॥५२॥

इसलिए आत्म-सयम रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि, चिन्ता के विषय के उपस्थित होने पर, मन प्रसाद द्वारा अपनी बुद्धि को ठीक रखते हुए धैर्य के साथ अपने कर्तव्य का ही पालन करे ।

चिन्तया चित्तसंताप आत्मदौर्बल्यमेव च ।
प्रत्यक्षं जायते, तस्माच् चिन्ता ता परिवर्जयेत् ॥५३॥

यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि चिन्ता से चित्त को सन्ताप और आत्म-दुर्बलता ही होती है । इसलिए चिन्ता को छोड़ ही देना चाहिए ।

मन·प्रसादमाश्रित्य सुसुखमापदापगा ।
धीरास्तरन्ति, नात्मानमवसादं नयन्ति ते ॥५४॥

धीर मनुष्य मन -प्रसाद का सहारा लेकर आपत्ति की नदियो को सुख-पूर्वक पार कर जाते हैं । वे अपने को दु खी नही करते ।

[१३]

आभ्यन्तर शत्रु

"मा त्वा परिपन्थिनो विदन्" (यजुर्वेद ४।३४) ।

अर्थात्, ऐसा यत्न करो कि तुम्हारी उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें ।

शत्रोराक्रमणे शक्त्या प्रतिरोधाय यत्यते ।
स्वगृहाभ्यन्तरे तस्मा अवकाशो न दीयते ॥५५॥

शत्रु के आक्रमण करने पर पूर्ण शक्ति से उसके रोकने का यत्न किया जाता है । अपने घर के अन्दर आने के लिए उसको अवकाश नही दिया जाता ।

तथाक्रमणवेलाया लोभादीना समन्ततः ।
नावकाशः प्रदातव्य आत्मनोऽभ्यन्तरे बुधैः ॥५६॥

इसी प्रकार सब ओर से लोभ, मोह आदि मनो-विकारो के आक्रमण करने पर बुद्धिमानो को चाहिए कि उनको अपने अन्दर घुसने का अवकाश न दें।

एते हि शत्रव क्रूरा प्रविश्यान्त. प्रमाथिन. ।
बुधस्तानभियुध्येत पूर्णशक्त्या ह्यतन्द्रित· ॥५७॥

ये लोभादि शत्रु बडे क्रूर है और अन्दर प्रवेश करके अत्यन्त पीडा देने वाले है। इस लिए बुद्धिमान् को चुस्त होकर पूर्ण शक्ति के साथ पहले से ही उनका सामना करके युद्ध करना चाहिए।

[१४]

नाम-संकीर्तन की महिमा

"मयि धेहि रुचारुचम्" (यजुर्वेद १८।४८)।

अर्थात्, भगवन्! मुझे प्रसन्नता के प्रकाश से भरपूर कर दीजिए।

यथा तमोवृतं सद्म प्रकाशे सति दीप्यते ।
यथारण्यं निरानन्दमारामैरुपशोभते ॥५८॥

आरामरमणीयत्वं यथा पुष्पैश्च जायते ।
यथोदयेन चन्द्रस्य राजते रजनीमुखम् ॥५९॥

सुविचारैर्जपेनेशनामसंकीर्तनेन च ।
तथैव मानसं सद्य. प्रसन्नं जायते ध्रुवम् ॥६०॥

एवं भूय प्रयत्नेन ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।
मोहं नैराश्यमुन्मूल्य यतात्मा विचरेन्मुनिः ॥६१॥

जैसे अन्धकार मे व्याकुल भ्रमर प्रभात के होने पर प्रदीप्त हो उठता है,

जैसे बीहड़ उपवन [illegible] के [illegible] से शोभायमान हो जाता है।

जैसे फूलो से उपवनो की रमणीयता बढ़ जाती है,

जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर रजनी का मुख कान्तियुक्त हो जाता है,

वैसे ही मानव का हृदय सद्विचारो से, जप से और भगवन्नाम के संकीर्तन से निश्चय ही महान प्रसन्न हो जाता है,

अर्थात् उसका हृदय-कमल खिल उठता है।

[illegible] मुनि को इस प्रकार, बार-बार भगवत्पूजन ज्ञान और विज्ञान को प्राप्त करने वाले अंतर्मुखी जीवन का अनुभव करके, अपने जीवनपथ पर अग्रसर होना चाहिए।

[१५]

परमात्मा का वरद हस्त

"नास्य क्षीयन्त ऊतयः" (ऋग्वेद ६।४५।३)।

अर्थात्, भगवान् के रक्षणो मे कमी कभी नही आती।

नूनं स्वजन्मनः पूर्वमन्तर्यामिनियन्त्रितः।
अभूवमहम्, एवं वै मृत्योः पश्चात्स्थितिर्ध्रुवा ॥६२॥
सत्येवम्, 'अल्पकालेऽस्मिञ्जीवनेऽपि परात्मना।
सर्वथा रक्षितो वर्ते' इत्येवमवधार्यताम् ॥६३॥

अपने जन्म से पहले मै निश्चय ही अन्तर्यामी परमात्मा से नियन्त्रित था। मृत्यु के पश्चात् भी निस्सन्देह ऐसी ही स्थिति होगी। ऐसी दशा में, "इस अल्पकालीन जीवन मे भी मै परमात्मा से सर्वथा रक्षित हूँ" ऐसा ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जन्म से पहले उसकी क्या दशा थी और मरने के बाद क्या होगी, यह कोई मनुष्य नही जानता। उक्त दोनो अवस्थाओ मे वह किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा ही नियन्त्रित तथा रक्षित रहता है। ऐसी स्थिति में, इस स्वल्पकालीन जीवन मे भी वह उसी अदृष्ट शक्ति द्वारा सर्वथा रक्षित है, ऐसी ही भावना प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिए।

[१६]

जीवन का नाट्य

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११)।

अर्थात्, वह परमात्मा सब का साक्षी, ज्ञानस्वरूप, निर्द्वन्द्व और सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीनों गुणों से रहित है।

धनव्ययेन दृश्यानि नाट्यादीनि समुत्सुकाः।
पश्यन्ति लौकिकास्तद्वद् वर्त्तथा जीवनं प्रति ॥६४॥

सासारिक लोग धन का व्यय करके बड़ी उत्सुकता के साथ नाट्य आदि के दृश्यों (तमाशों) को देखते हैं। जीवन के विषय में भी तुम ऐसा ही बर्ताव रखो।

अभिप्राय यह है कि जीवन मानो एक नाटक है। उसकी सुख-दुःखात्मक घटनाओं में लिप्त न होते हुए ही, मनुष्य को अपने अनुभव की वृद्धि और विकास के मार्ग पर आगे बढते रहना चाहिए।

[१७]

उत्तरोत्तर उन्नति का लक्ष्य

"प्रतार्यायुः प्रतरं नवीय" (ऋग्वेद १०।५६।१)।

अर्थात्, भगवन्! हमें उत्तरोत्तर समुन्नति-शील नवीनतर जीवन में अग्रसर कीजिए।

जन्मजन्मान्तरस्यैतद् विज्ञा आहु. प्रयोजनम्।
अनुभूतिविशेषैर्यदुत्तरोत्तरमुन्नति ॥६५॥

विज्ञो का कहना है कि विभिन्न अनुभवो द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति अथवा विकास ही जन्म-जन्मान्तर का प्रयोजन है।

तस्माद् यानुभवस्ताभिर्मानवस्येह जायते।
दु:खरूपापि सा नून मन्तव्या सप्रयोजना ॥६६॥

इस लिए मनुष्य को इस जीवन मे दुःख-रूप में भी जो अनुभव प्राप्त होता है उनको सप्रयोजन ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने जीवन की दुःखात्मक घटनाओ से न घबड़ाकर उनको, उनसे प्राप्त शिक्षा या अनुभव द्वारा, अपने उत्तरोत्तर विकास का साधन ही बनाना चाहिए। क्योंकि—

यथार्ज्यंते धनं लोके दु:खै: कष्टैश्च भूरिश:।
तथा तैरर्ज्यंते ज्ञानं जनैरनुभवात्मकम् ॥६७॥

जैसे संसार म अनेक प्रकार के दुःखो और कष्टो से धन का सचय किया जाता है, वैसे ही अनुभवात्मक ज्ञान भी अनेक दुःखो और कष्टो से सचित किया जाता है।

[१८]

ईश्वर-प्रार्थना

"महीरस्य प्रणीतय: पूर्वीरुत प्रशस्तय।
नास्य क्षीयन्त ऊतय।" (ऋग्वेद ६।४५।३)।

अर्थात्, भगवान् की लीला या चरित्रो की कोई सीमा नही है। उनकी गुण-वर्णना की गणना नही हो सकती। उनके रक्षणो में कभी कमी नही आती।

दत्तं देवेन यत् तुभ्यं तदर्थं स्वकृतज्ञताम्।
ब्रूहि तं परमात्मानं मा भूत् तेऽत्र कृतघ्नता ॥६८॥

परमात्मा ने जो कुछ तुमको दिया है, तुमको चाहिए कि उसके लिए परमात्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता को प्रकट करो। इस विषय मे तुम्हे कृतघ्न न होना चाहिए।

यदवाप्तं त्वया देवात् तदर्थं योग्यतात्मन· ।
दर्शनीया प्रयत्नेन प्रार्थनीयं ततोऽधिकम् ॥६६॥

तुमने जो कुछ परमात्मा से पाया है उसके लिए पहले प्रयत्न-पूर्वक अपनी योग्यता को दिखलाओ। उसके अनन्तर ही उससे अधिक के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

यच्चाप्राप्तं तदर्थं मा व्यग्रो भूर्यत्नमाचरे ।
सत्ये श्रद्धामथास्तिक्यं भज विश्वासमात्मनि ॥७०॥

जो तुमको नही प्राप्त हुआ है उसके लिए व्यग्र न होकर प्रयत्न करो। साथ ही, सत्य मे श्रद्धा, आस्तिक्य (= अपने आदर्शो मे आस्था) और आत्म-विश्वास रखो।

यच्चाप्यधिगतं देवात् तुच्छत्वेनावमन्यते ।
मूढैस्, तद्वस्तुतोऽमूल्यं विज्ञैरेवं विभाव्यते ॥७१॥

ईश्वर से जो कुछ हमको मिला है, मूढ तुच्छ समझकर उसका अपमान करते हैं। परन्तु विज्ञ वास्तव मे उसको अमूल्य समझते है।

एकैकमिन्द्रियं तावद् बुद्धिर्वा स्वास्थ्यमेव वा ।
यत्त्वयाधिगतं देवात् तस्य मूल्यं विभाव्यताम् ॥७२॥

विद्यतेऽत्र जन कश्चिद् विक्रेतुमुद्यतो भवेत् ।
त्रिलोक्या अपि मूल्येन ह्यर्थेष्वेतेषु कश्चन ? ॥७३॥

जो कुछ तुमने परमात्मा से पाया है—एक-एक इन्द्रिय, अथवा बुद्धि, अथवा स्वास्थ्य—उसके मूल्य पर तो तनिक विचार करो!

इस ससार मे क्या कोई ऐसा मनुष्य है जो तीनो लोको के मूल्य से भी इन पदार्थों में से किसी एक को भी बेचने को उद्यत होगा ?

तस्माद् विज्ञैर्विवेकेन वस्तुमूल्यं विभाव्यताम् ।
तद्दृष्ट्या तस्य तुच्छत्वं महत्त्वं वावधार्यताम् ॥७४॥

इसलिए विज्ञो को विवेक-पूर्वक वस्तुओ के मूल्य पर विचार करना चाहिए और उस मूल्य की दृष्टि से उनके तुच्छत्व और महत्त्व का निश्चय करना चाहिए।

एवंविधविचारैस्तु वर्तमाना मनीपिणः।
धन्यवादपरा ईशे ह्यनिर्विण्णा सदासते ॥७५॥

इस प्रकार के विचारो से जीवन-यात्रा करने वाले मनीपी लोग ईश्वर को धन्यवाद देते हुए सदा प्रसन्न-चित्त रहते है।

[१९]

अविश्वास और विश्वास

प्रार्थयन्नपि लोकेशं यदि शङ्काकुलो भवान्।
केवलं नात्मनोऽवज्ञा परेशस्यापि सा भवेत् ॥७६॥

अविश्वासोऽथ विश्वास. सह स्थातुं न शक्नुत।
परस्परं विरुद्धौ तौ प्रकाशतिमिरे यथा ॥७७॥

संशयानमनोवृत्ति तस्माच्छित्वा दुरत्ययाम्।
सर्वकार्यसमृद्ध्यर्थमात्मविश्वासमाश्रये. ॥७८॥

जगदीश्वर की प्रार्थना करते हुए भी यदि आप का मन शङ्काओ से आकुल है, तो इससे केवल आपकी अपनी ही नही अपितु परमेश्वर की भी अवज्ञा होती है।

अविश्वास और विश्वास एक साथ नही रह सकते। उन दोनो में परस्पर ऐसा ही विरोध है जैसा प्रकाश और अन्धकार में।

इसलिए तुम्हे कठिनता से हटायी जाने वाली सशयालु-वृत्तिका उच्छेद करके, सब कार्यों मे सफलता पाने के लिए, आत्म-विश्वास का आश्रय लेना चाहिए।

[२०]

मानवता का महत्त्व

"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शतपथब्राह्मण २।५।१।१)

अर्थात्, सब प्राणियो में मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर के सबसे अधिक समीप है।[1]

ऊपर आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की बात कही गयी है। ऐसे सब प्रतिपादनो का आधार 'मानवता के महत्त्व का सिद्धान्त' है। इस मौलिक सिद्धान्त को हृदयगम करके ही मनुष्य जीवन की प्रत्येक स्थिति मे अपने मन-प्रसाद को (अथवा मन के सतुलन को) स्थिर रख सकता है। उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे की रचना में किया गया है—

उत्पाद्य सकला सृष्टिमसन्तुष्टः प्रजापतिः।
सृष्टवानात्मरूपेण मन्ये मानुष्यकं महत् ॥७९॥

समस्त सृष्टि को उत्पन्न करके प्रजापति (ब्रह्मा) को सन्तोष नही हुआ। तब उन्होने, हमारे मत में, अपने रूप में महान् मानवता की सृष्टि की।

परात्मन स्वरूपं तदानन्दरसनिर्भरम्।
निर्मलं शाश्वतं शान्तं प्रेम-कारुण्यसुन्दरम् ॥८०॥
कुत्राप्यन्यत्र सुस्थानं न दृष्ट्वा खिन्नमानसम्।
स्वस्थं तिष्ठति यत्रैतन् मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८१॥

आनन्द रस से परिपूर्ण, निर्मल, शाश्वत, शान्त और प्रेम तथा करुणा से सुन्दर परमात्मा का वह स्वरूप, मानवता से अन्यत्र कही भी अपने योग्य सुन्दर स्थान को न पाकर, खिन्न-मनस्क होकर, जहाँ आराम से रह सकता है, हमारे मत मे, वह महान् मानवता ही है।

---

१ तु० "गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतर हि किञ्चित्" (महाभारत, शान्तिपर्व, २९९।२०)

अभिप्राय यह है कि परमात्मा के उक्त परम पवित्र स्वरूप का साक्षात्कार मानव ही कर सकता है तथा मानवता में ही वह स्वरूप मूर्तिमान् होकर दृष्टिगोचर हो रहा है।

इसी अर्थ को नीचे स्पष्ट किया गया है—

केवलं तत्र पश्यन्ति महात्मानो मनीषिण।
योगिनस्तत्त्ववेत्तारस्तस्मात्स्वान्तस्थमव्ययम् ॥८२॥
भास्वरं परमं तत्त्वं सर्वक्लेशविवर्जितम्।
तन्नूनं सुतरा पुण्यं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८३॥

उक्त कारण से ही मनीषी महात्मागण तथा तत्ववेत्ता योगीजन अपने अन्त करण मे अवस्थित अव्यय, प्रकाशस्वरूप तथा सर्व क्लेशा से रहित उस परम तत्त्व को मानवता मे ही देखते हैं। इसलिए, हमारे मत में, मानवता अत्यधिक पवित्र और महान् है।

विश्वस्मादुत्तरं तस्मात् सारवद् विश्वतोमुखम्।
विश्वभुग् विश्वद्रष्टृत्वपदे नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥८४॥
आश्चयमद्भुतं दिव्य - गुणग्रामनिकेतनम्।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८५॥

इसलिए, हमारे मत से, मानवता का महत्त्व सबसे अधिक है। सारी सृष्टि का यह सार है। उसकी दृष्टि चारो ओर फैली हुई है। वह विश्व का उपभोग करती है और सदा विश्व के द्रष्टा के पद पर वह अवस्थित है। वह आश्चर्यरूप और अद्भुत है। दिव्य गुणो का स्थान है। अर्थात् उसके विकास का क्षेत्र अनन्त है।

धन्यास्ते तत्त्वमेतद् येऽसशयेन विजानते।
अन्तरायशतेऽव्यग्रा नात्मानमवजानते ॥८६॥
किञ्च मानवमात्रस्य मानमातन्वते सदा।
नृषु सर्वेषु पश्यन्तो मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८७॥

जो इस तत्त्व को निस्सशय रूप से जानते है, वे धन्य है। वे अनेकानेक विघ्नो के आने पर भी अपने आत्मा की अवज्ञा नही करते, अपने मे हीन भावना नही आने देते। किंतु वे सब मनुष्यो मे रहने वाली महान् मानवता को ध्यान मे रखते हुए सदा प्रत्येक मनुष्य को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

नरनारायणौ नित्यं केवलं यत्र तिष्ठत.।
भ्रातृभावं समापन्नौ परमं सख्यमाश्रितौ ॥८८॥
देवानामपि सर्वेषा स्थितिर्यत्रैव लभ्यते।
धर्मस्य तदधिष्ठानं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८९॥

जिस मानवता मे ही भ्रातृभाव को प्राप्त होकर अथवा अत्यन्त सखिभाव से नर और नारायण दोनो एक साथ रहते है, समस्त देवताओ की स्थिति का अनुभव जिसमे होता है तथा जो धर्म का भी अधिष्ठान है, हमारे मत मे, वह मानवता महान् है।

अभिप्राय यह है कि नर और नारायण अर्थात् मनुष्य और उसके आदर्श देव का योग मानव को छोड़ कर और कही नही हो सकता। इसी प्रकार मनुष्य को छोड़कर देवता अथवा धर्म भी और कही नही रह सकते।

ऋषयस्तत्त्वमर्मज्ञा मुनयो गतमत्सरा.।
विक्रान्तयशस शूरा· सन्तश्चारित्र्यभूषणा. ॥९०॥
स्वोत्कर्षं यदवाप्यैव प्राप्तुं शक्ता असंशयम्।
तत्पदं परमोत्कृष्टं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥९१॥

पदार्थो के मर्म को जानने वाले ऋषिगण, मद और मात्सर्य से रहित मुनिजन, पराक्रमशील शूरवीर और चारित्र्य से भूषित सत्पुरुष जिस स्थिति मे रहकर ही अपने-अपने उत्कर्ष को पा सकते हैं, हम उस मानवता को महान् और परम उत्कृष्ट मानते है।

[२१]

प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतौ दत्तमानस.।
आशावादमुपाश्रित्य प्रसादसुमुखो भव ॥९२॥
प्रकृते परमा शोभा व्याप्य लोकत्रयं स्थिताम्।
संपश्यन्ननिशं विद्वन्! प्रसादसुमुखो भव ॥९३॥

अपि विघ्नशतै रुद्ध. शत्रुवर्गेण पीडित ।
सद्भावैर्भावितात्मत्वात् प्रसादसुमुखो भव ॥९४॥
द्वन्द्वैरहमसंस्पृष्टो वस्तुतोऽस्मि निरञ्जन' ।
एतद्ध्यानपरो नित्यं प्रसादसुमुखो भव ॥९५॥

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति मे दत्तचित्त होते हुए, आशावाद का आश्रय लेकर, तुम प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो ।

अयि विद्वन् ! तीनो लोको को व्याप्त करके स्थित प्रकृति की परम शोभा का ईक्षण करते हुए तुम सदा प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो !

सैकडो विघ्नो की बाधा के होने पर भी और शत्रु-वर्ग से पीडित होने पर भी, सद्भावो से आत्मा के भावित होने के कारण तुम प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो ।

'मै सुख-दु ख आदि के द्वन्द्वो से असस्पृष्ट हूँ', 'मैं वास्तव मे निरञ्जन (=कालुष्य या मल से रहित) हूँ' ऐसे ध्यान मे तत्पर होते हुए तुम सदा प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो ।

॥ इति जीवनज्योतिषि मन प्रसादो नाम नवमो रश्मि ॥

दशमो रश्मिः

आनन्दानुभवः

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
...............तत्र माममृतं कृधि... ॥
(ऋग्वेद ९।११३।११)

...सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः ।
सा मा शान्तिरेधि । (यजुर्वेद ३६।१७)

मा भेः, मा संविक्थाः (यजुर्वेद १।२३)

●

दशम रश्मि

आनन्दानुभव

हे देव ! मुझे उस स्थिति मे अमृतत्व प्रदान कीजिए जिसमे आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान है । (ऋग्वेद ९।११३।११)

हमारे लिए सब कुछ शान्ति-दायक हो । हमारे लिए सर्वत्र सर्वदा शान्ति ही शान्ति हो ! (यजुर्वेद ३६।१७)

न तो तुम भय का अनुभव करो, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ !
(यजुर्वेद १।२३)

आनन्दानुभव

नर उवाच

मन प्रसादमाश्रित्य भवतोऽमृतसंनिभम् ।
श्रुत्वोपदेशमात्मानं मन्ये विगतकल्मषम् ॥ १ ॥

नूनं मनःप्रसादोऽयमीशस्यानुग्रहो महान् ।
यस्योदये प्रणश्यन्ति मोहध्वान्तोद्भवा गणाः ॥ २ ॥

सत्यमेतत्तथाप्येका शङ्का मनसि जायते ।
चिन्तामाश्रित्य या नूनं जननी क्लेशसन्ततेः ॥ ३ ॥

सर्वस्यापि जनस्येह सुषमा विषमास्तथा ।
अनिवार्यतयावस्था उत्पद्यन्ते यदा कदा ॥ ४ ॥

विषमावस्थापतितो नूनं मर्त्यो विषादसमूढः ।
चिन्ताप्लावितचित्तो निजकर्तव्यं न जानीते ॥ ५ ॥

चिन्तायाः एतस्या दुष्टाया दुर्विदग्धायाः ।
अपनोदनं यथा स्यात् कृपया ब्रूहि तं प्रतीकारम् ॥ ६ ॥

नर ने कहा

मन प्रसाद के विषय को लेकर आप के अमृत जैसे उपदेश को सुनकर मै अपने को पाप से रहित समझता हूँ ।

यह मनःप्रसाद निश्चय ही ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है, जिसके उदय होने पर मोह-रूपी अन्धकार से उत्पन्न (दोषो का) गण नष्ट हो जाता है ।

यह ठीक है, तथापि चिन्ता के सम्बन्ध मे, जो क्लेशो की परम्परा की जननी है, एक शङ्का मन मे उत्पन्न हो रही है ।

इस ससार मे प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे यदा-कदा सुषम (अनुकूल अथवा सुखद) और विषम (प्रतिकूल अथवा दु खद) अवस्थाएँ अनिवार्य रूप से उपस्थित होती रहती है ।

विषम अवस्था मे पड़ा हुआ मनुष्य विषाद से मूढ हो जाता है और उसका चित्त चिन्ताओ से व्याप्त हो जाता है । उस अवस्था में उसे अपना कर्तव्य नही सूझता ।

इस दुष्टा और दुर्विदग्धा (=पापिनी) चिन्ता का वारण जिस प्रकार हो सकता है, कृपया उस प्रतीकार को बतलाइए ।

नारायण उवाच

श्रुत्वा शङ्कामेता नितरा वत्स! प्रसन्नोऽस्मि ।
प्रयते वक्तुमुपायं चिन्ताहानिर्यथा भवति ॥ ७ ॥

आनन्दानुभवो वै सद्यश्चिन्तापनोदनं कर्तुम् ।
केवलमेक उपायस्तत्त्वज्ञाना सतामिष्टः ॥ ८ ॥

नूनं स्वर्ग्यावस्था सैषा नैवात्र संदेह ।
यस्यां स्थितो विपश्चिच् चिन्तातापं न जानीते ॥ ९ ॥

आनन्दानुभवो यस्य नैरन्तर्येण जायते ।
सूर्योदये तमासीव तस्य चिन्ता विलीयते ॥१०॥

'आनन्दरूप आत्मायं' निश्चयो यस्य विद्यते ।
आनन्दानुभवस्तस्य सातत्येन भवेद् ध्रुवम् ॥११॥

अवकाशोऽपि चिन्तायास्तस्य स्वान्ते न विद्यते ।
सर्वमेतदधस्तात्ते विस्तरेणोच्यते शृणु ॥१२॥

श्रीनारायण ने कहा

हे वत्स ! तुम्हारी इस शङ्का को सुन कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । मै उस उपाय को बताने का प्रयत्न करूँगा जिसके द्वारा चिन्ता को हटाया जा सकता है ।

तत्वज्ञानी सन्तों का मत है कि आनन्दानुभव (=आनन्द की अनुभूति) ही केवल एक ऐसा उपाय है जिससे चिन्ता का तत्काल प्रतीकार किया जा सकता है।

निश्चय ही यह वह स्वर्गीय अवस्था है जिसमें स्थित हुआ मनीषी चिन्ता के तार को अनुभव नहीं करता, इसमें सन्देह नहीं है।

जिस व्यक्ति को निरन्तर आनन्द का अनुभव होता है उसकी चिन्ता, सूर्य के उदय होने पर अन्धकार के समान, नष्ट हो जाती है।

जिसका यह निश्चय है कि यह आत्मा आनन्द-स्वरूप है, निश्चय ही उसको सतत आनन्द का अनुभव होता है। उसके चित्त में चिन्ता को कुछ भी अवकाश नहीं मिलता। सुनो! नीचे विस्तार-पूर्वक यह सब तुमको बतलाता हूँ।

कौन मनुष्य किस प्रकार निरन्तर आनन्द का अनुभव कर सकता है, इसी विषय का विचार नीचे की रचनाओं में किया गया है —

१]

आनन्दमय जीवन

[२]

अमृत की निधि

आयुष्यं लब्धुकामो वै नैव चिन्तातुरो भवेत्।
चिन्तया ह्रसते ह्यायुस्तस्मात्ता परिवर्जयेत् ॥१७॥
सौमनस्ये तथा शान्तावमृतस्य निधिर्हित.।
स्वस्थचित्तास्तत सन्तो ह्यमृतस्य निषेविण. ॥१८॥
स्वस्थवृत्ते प्रवाहेण प्रवाहितमलोच्चया.।
प्रसन्ना निर्मला सन्तो लोककल्याणसेतव ॥१९॥

जो मनुष्य आयुष्य चाहता है उसे चिन्ता से आतुर नही होना चाहिए। यत चिन्ता से आयु का ह्रास होता है, इसलिए उसे छोड देना चाहिए।

सौमनस्य मे और शान्ति मे अमृत की निधि निहित है। इसीलिए स्वस्थ चित्त से युक्त सत्पुरुप सदा अमृत का सेवन (उपभोग) करते हैं।

स्वस्थ (=चिन्तारहित) वृत्ति के प्रवाह से जिन्हो ने (चित्त के) मलो के समूह को बहा दिया है, ऐसे प्रसन्न-चित्त तथा निर्मल सत्पुरुप लोक-कल्याण के सेतु (=साधन) हुआ करते है।

चिन्ता का विश्लेपण करने पर उसमे जो अवसाद का अश प्राप्त होता है, वास्तव में वह बिलकुल व्यर्थ है—इस बात का तथा चित्त की साम्यावस्था का विचार नीचे किया गया है—

[३]

चित्त की साम्यावस्था

चिन्तास्थलेषु चिन्ताया उपयोगो न कश्चन।
यतश्चिन्तास्वरूपं हि वैवश्यस्य स्फुटं फलम् ॥२०॥

साफल्ये शङ्कया युक्तो नरश्चिन्तातुरो भवेत् ।
साफल्ये शङ्कया मुक्तो नैव चिन्ता समश्नुते ॥२१॥
अतश्चिन्तास्थले चिन्ता भ्रातस्तस्मै समर्पय ।
देवाय चिन्तया यस्य प्रक्रिया जगतो मता ॥२२॥
भूमावुप्तस्य बीजस्य गर्भावस्थस्य देहिन. ।
शिशोर्वा जातमात्रस्य देवश्चिन्ता करोति स. ॥२३॥
देहेऽप्यस्मिन् क्रियास्तास्ता मत्प्रयत्नानपेक्षया ।
यशस्तस्यैव गायन्ति जायमाना निरन्तरम् ॥२४॥

चिन्ता के स्थलो मे चिन्ता का कोई उपयोग नही होता । क्योकि चिन्ता का स्वरूप स्पष्टतया विवशता का फल होता है ।

जो मनुष्य अपनी सफलता के सम्बन्ध मे शका से युक्त है, वही चिन्ता से आतुर होता है । जो सफलता के सम्बन्ध मे शका से मुक्त है, उसके पास चिन्ता नही आती ।

इसलिए अयि भाई ! चिन्ता के स्थल मे चिन्ता को उस परमेश्वर के सुपुर्द कर दो जिसकी चिन्ता मे जगत् की प्रक्रिया चल रही है ।

वही परमेश्वर भूमि मे बोये हुए बीज की, गर्भ में स्थित प्राणी की, अथवा उत्पन्न होते ही शिशु की चिन्ता करता है ।

इस शरीर मे भी, हमारे प्रयत्न की अपेक्षा के बिना ही, निरन्तर होने वाली तत्तत् क्रियाएँ (रक्त का सचार, हृदय की गति आदि) उसी परमेश्वर के यश का गान करती है ।

चिन्तातत्त्वस्य विश्लेपेऽवसादश्चिन्तनं तथा ।
लभ्यते, चिन्तने दोषो नावसादे पुनर्महान् ॥२५॥
चिन्तनं ह्यवसादेन दोषयुक्तं प्रजायते ।
अवसादस्य वैयर्थ्यं स्पष्टं कस्य न भासते ? ॥२६॥
चिन्ताया चिन्तनं कामं क्रियेतावश्यकं यदि ।
अवसादस्य गन्धोऽपि न भवेत्तत्र कश्चन ॥२७॥

मेघैरावृतसूर्यस्य प्रकाशस्य गतिर्यथा।
तथावसादयुक्तस्य चिन्तनस्य गतिर्मता ॥२८॥

सैव चिन्ता, परित्यागस्तस्या कार्यः प्रयत्नत.।
विधिनानेन चित्तस्य साम्यावस्थाधिगम्यते ॥२९॥

चिन्ता-तत्त्व के विश्लेषण करने पर अवसाद और चिन्तन पाये जाते है। (इन दोनो मे से) चिन्तन मे कोई दोष नही है, परन्तु अवसाद मे बड़ा दोष है।

अवसाद के कारण ही चिन्तन दोष-युक्त हो जाता है। (परन्तु) अवसाद की व्यर्थता किसको स्पष्टतया प्रतीत नही होती ?

चिन्ता मे भले ही, यदि आवश्यक हो तो, चिन्तन किया जा सकता है। (परन्तु) उस (चिन्तन) में अवसाद का गन्ध भी न होना चाहिए।

मेघो से आवृत सूर्य के प्रकाश की जैसी गति होती है, वैसी ही गति अवसाद से युक्त चिन्तन की होती है—

वही चिन्ता है। उसका परित्याग प्रयत्न-पूर्वक करना चाहिए। इस विधि के अनुसरण से चित्त की साम्यावस्था प्राप्त की जा सकती है।

उपर्युक्त विचार के दार्शनिक आधार का प्रतिपादन नीचे किया गया है—

[४]

अनिगूढ विधान

विश्वस्य प्रक्रियाया वै विधानं द्विविधं मतम्।
कार्यकारणभावस्य साम्राज्यं तत्र विद्यते ॥३०॥

कार्यकारणसम्बन्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते।
एकत, परतस्तस्य प्रत्यक्षावगतिर्नहि ॥३१॥

द्वैविध्यं विद्यते ह्येतन्मर्त्यानामल्पमेधसाम्।
दृष्ट्या, परात्मनो दृष्ट्या त्वद्वैतं तत्र निश्चितम् ॥३२॥

कार्यकारणयोर्मध्यवर्तिनी यैकसूत्रता।
अन्तर्नियामिका शक्ति. सैव विश्वस्य मन्यते ॥३३॥
विधानं च विधाता च विधिर्वा सा निगद्यते।
नामभेदे पदार्थस्य न स्वरूपं विभिद्यते ॥३४॥
विधानमतिगूढं तद् विश्वं व्याप्य व्यवस्थितम्।
तदेव शरणं यामि सच्छ्रद्धस्तन्नमाम्यहम् ॥३५॥
कार्यकारणभावस्य प्रवाहे पतितो भृशम्।
विधातुस्तस्य साहाय्यमवलम्ब्य स्थितोऽस्म्यहम् ॥३६॥

विश्व की प्रक्रिया मे विधान दो प्रकार का है। उन दोनो मे कार्य-कारण भाव का साम्राज्य अथवा आधिपत्य विद्यमान है।

एक ओर कार्य-कारण का सम्वन्ध प्रत्यक्ष पाया जाता है, दूसरी ओर उस सम्वन्ध की प्रत्यक्ष प्रतीति नही होती।

उपर्युक्त द्वैविध्य केवल अल्प-वुद्धि मरण-शील मनुष्यो की दृष्टि से ही है। परन्तु परमात्मा की दृष्टि से तो वहाँ केवल अद्वैत ही निश्चित है। अर्थात्, परमात्मा की दृष्टि से, अथवा वास्तविक दृष्टि मे, सर्वत्र विद्यमान कार्यकारण का सम्वन्ध एक ही जैसा है।

कार्य और कारण के मध्य मे रहने वाली जो एकसूत्रता है वही विश्व की अन्तर्नियामिका (= अन्दर से नियमन करने वाली) शक्ति मानी जाती है।

उसी (अन्तर्नियामिका) शक्तिको 'विधान', 'विधाता' अथवा 'विधि' कहा जाता है। किसी पदार्थ के नामो के भेद से उसके स्वरूप मे भेद नहीं आता है।

वह उपर्युक्त विधान, जो विश्व को व्याप्त करके व्यवस्थित है, अति गूढ है। मै उसी की शरण में जाता हूँ और सात्त्विकी श्रद्धा के साथ उसको नमस्कार करता हूँ।

कार्य-कारण-भाव के प्रवाह में पड़ा हुआ (अथवा बहता हुआ) मैं उसी विधान के साहाय्य के अवलम्बन से स्थित हूँ (=अपने को बचाये हुए हूँ)।

ऊपर कहा गया है कि जो मनुष्य अपनी सफलता के सम्बन्ध मे शका से मुक्त है उसके पास चिन्ता नही आती। इसी प्रसङ्ग मे नीचे यह बतलाया गया है कि जो मनीषी है उनको अपनी जीवन-यात्रा के प्रसङ्ग मे विफलता की शका का कभी अवसर ही नही आता —

[५]

जीवन की सफल यात्रा

कामं प्रयत्नमातिष्ठेल्लौकिकार्थेषु बुद्धिमान् ।
यत. प्रयत्नसापेक्षा. सर्वेऽप्यर्था. स्वभावत. ॥३७॥
विद्यते तारतम्यं यत्पदार्थेषु परस्परम् ।
तस्य विस्मरणं कार्षीर्मा भ्रातस्त्वं कदाचन ॥३८॥
कार्यसिद्धेरभावश्चेदेकस्मिन् विषये भवेत् ।
हेतोरुत्कृष्टकार्यस्य नोन्मनीभावमाश्रयेः ॥३९॥
लौकिकार्थानपेक्ष्यापि वर्ततेऽलौकिकं यत ।
समुत्कृष्टतमं लक्ष्यं सर्वस्यापीह जीवने ॥४०॥
यासौ चारित्र्यसंपत्तिश्चारित्र्योत्कर्ष एव वा ।
मनुष्यजीवनस्यास्य परमं लक्ष्यमुच्यते ॥४१॥
सिद्धान्तमिममाश्रित्य ये वर्तन्ते मनीषिण ।
जीवनस्यास्य यात्राया वैफल्यं ते न जानते ॥४२॥

बुद्धिमान् मनुष्य लौकिक पदार्थों के सम्बन्ध मे भले ही प्रयत्न करे, क्योकि सब पदार्थ स्वभाव से प्रयत्न की अपेक्षा करते है।

परन्तु पदार्थो मे परस्पर जो तारतम्य (=तरतम-भाव) विद्यमान है, हे भाई ! उस तारतम्य को तुम कभी न भूल जाओ।

यदि एक विषय में (आपातत अभिप्रेत) कार्य की सिद्धि न हो, तो उससे उत्कृष्टतर कार्य को ध्यान मे लाकर तुम अपने मन को छोटा मत करो। अर्थात्, किसी कार्य की सिद्धि यदि न हो, तो यह सोच कर कि उससे उत्कृष्टतर कार्य हमारे सामने है, हमे खिन्न या अधीर न होना चाहिए।

क्योकि लौकिक पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट लक्ष्य भी, जिसको अलौकिक कहा जा सकता है, इस जीवन में सबके सामने विद्यमान है।

जो चारित्र्य की सपत्ति अथवा चारित्र्य का उत्कर्ष है, वही इस मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य माना जाता है।

जो मनीषी उपर्युक्त सिद्धान्त का आश्रय लेकर रहते हैं, वे इस जीवन की यात्रा मे विफलता का अनुभव कभी नहीं करते।

चिन्ता के स्थलो में भी मनुष्य मन प्रसाद का अनुभव कर सकता है—इस बात को नीचे बतलाया गया है—

[६]

परमात्मा का प्रसाद

एकस्मिन्समये नूनमेकं ज्ञानं प्रजायते।
मानवस्य स्वभावेन प्रसादोऽयं परात्मन. ॥४३॥
शोकसन्ततिसन्तप्तश्चिन्ताव्याकुलमानस· ।
कृतयत्न क्षणेनैव प्रसादमधिगच्छति ॥४४॥

एक समय में मनुष्य को स्वभाव से एक ही ज्ञान होता है—यह परमात्मा का प्रसाद है।

शोक की परम्परा से जो संतप्त है और चिन्ता से जिसका मन व्याकुल है, ऐसा व्यक्ति क्षण भर मे प्रयत्न करके (अर्थात् प्रयत्नपूर्वक मन को अन्य विपय मे लगाकर) प्रसन्नता को प्राप्त कर सकता है।

जीवन में शान्ति का मूल्य सबसे अधिक है—इस बात को नीचे कहते हैं—

[७]

शान्ति का अत्यधिक मूल्य

प्राप्तकालं भवेद्यत्तत् कर्म कृत्वा तु बुद्धिमान्।
प्रविश्यासीत शान्त्यर्थं यदन्तर्देवमन्दिरम् ॥४५॥

श्रान्तो जनो यथा भोज्यं पेयं चापेक्षते ध्रुवम् ।
चित्तश्रमापनोदाय तथा शान्तिरपेक्ष्यते ॥४६॥
देवगेहे तवैवान्त शश्वच्छान्तिर्विराजते ।
तामुपेक्ष्य कुतो मूढ ! सहसे यातना इमा. ॥४७॥
कार्याणामन्तरालेषु य एवं शान्तचेतस ।
तिष्ठन्ति, जीवतामेव तेषा नैश्रेयसी स्थिति ॥४८॥
जीवने मानवस्येह कार्यस्यान्तो न विद्यते ।
तत्र शान्तेरभावश्चेज्जीवनं दुर्भरं भवेत् ॥४९॥
शान्तिमूल्येन कार्याणि तस्मान्नैवाचरेद् बुध ।
कारणं सर्वसिद्धीना लक्ष्यं चापि मता हि सा ॥५०॥

जो कार्य प्राप्त-काल है उसे करके बुद्धिमान् व्यक्ति को शान्ति-लाभ के लिए जो उसके हृदय के अन्दर देव-मन्दिर है उसमे प्रवेश करके आसीन होना चाहिए ।

थका हुआ व्यक्ति जैसे भोज्य और पेय की अवश्य ही अपेक्षा करता है, वैसे ही चित्त के श्रम को दूर करने के लिए शान्ति की अपेक्षा होती है ।

तेरे ही हृदय के अन्दर जो परमेश्वर का मन्दिर है उसमे शाश्वतिक शान्ति विराजती है । उसकी उपेक्षा करके अयि मूढ ! इन यातनाओ को तू क्यो सहता है ?

(लौकिक) कार्यो के बीच-बीच में जो इस प्रकार शान्त-चित्त होकर बैठते है, वे जीते जी नि श्रेयस की स्थिति का अनुभव करते हैं ।

मनुष्य के इस जीवन मे कार्यों का अन्त नही है । ऐसी स्थिति मे, यदि जीवन मे शान्ति नही है, तो वह दुर्भर (= दु सह) हो जायगा ।

इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह शान्ति का मूल्य चुकाकर कार्यो को न करे। क्योकि वह (शान्ति) ही सब सिद्धियो का कारण होनेके साथ-साथ लक्ष्य भी मानी गयी है ।

चित्त की शान्ति के लिए सयम की आवश्यकता है—यह नीचे बतलाया गया है—

[८]

संयम की मौलिक आवश्यकता

अश्वारूढो यथा कश्चिदश्वविद्याविचक्षण. ।
उच्चावचप्रदेशेऽपि कुशली याति दूरत. ॥५१॥

एवं तत्तदवस्थासु तत्त्ववित्त्वात्मसंयमी ।
उद्वेगरहित स्वस्थ. स्वाभीष्टमधिगच्छति ॥५२॥

संयमः सर्वसिद्धीना मूलं तस्मान्निगद्यते ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥५३॥

जैसे कोई अश्व-विद्या मे विचक्षण घुड़सवार ऊँचे-नीचे प्रदेश मे भी कुशल-पूर्वक चला जाता है।

वैसे ही आत्म-सयमी तत्त्ववित् तत्तत् अवस्थाओ मे उद्वेग से रहित और स्वस्थ रहता हुआ अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है।

इसलिए सयम को सब सिद्धियो का मूल कहा जाता है। विद्वान् को संयम के सम्बन्ध मे वैसे ही यत्न करना चाहिए जैसे घोडो का सारथि (उनके सयम में यत्न करता है) ।

आत्मा के स्वरूप को विस्मृत करके जो असयतेन्द्रिय मनुष्य इन्द्रियो के विषयो मे रत रहते है, वे निश्चय ही दु खो को पाते हैं, इसी वात को नीचे कहा गया है—

[९]

आत्म-स्वरूप की विस्मृति

गृहस्वामी यथा तिष्ठेद् गृहस्यान्त. सुनिश्चितः ।
बहिर्भागे पुनर्भृत्यास्तन्निदेशानुवर्त्तिन· ॥५४॥

आत्मन इन्द्रियाणा च सत्यमेतादृशी स्थिति ।
आत्मार्थं वर्तनं तेषामिष्टमात्मानुवर्तनम् ॥५५॥

इन्द्रियाणा कृतेऽनिष्टं त्वात्मनो वर्तनं मतम्।
सेव्यसेवकभावस्य यतस्तत्र विपर्यय ॥ ५६ ॥

विस्मृत्य स्वस्थिति स्वामी भृत्यानेवानुवर्तते।
रमते तेषु चेन्नूनमनर्थायैव तद्भवेत् ॥५७॥

विस्मृत्य स्वात्मनो रूपमिन्द्रियार्थेषु ये रता.।
राजपुत्रो यथा साख्ये तथा ते दु:खभागिन ॥५८॥

जैसे एक गृहस्वामी सुनिश्चिन्त होकर घर के भीतर रहता है और उसकी आज्ञा के अनुसार काम करने वाले नौकर घर के बाहरी भाग में रहते है,

आत्मा और इन्द्रियो की स्थिति ठीक ऐसी ही है। वे (इन्द्रियाँ) आत्मा के लिए काम करती है। उनके लिए आत्मा का आज्ञानुवर्ती होना ही उचित है।

परन्तु आत्मा के लिए इन्द्रियो का अनुवर्ती होना अनिष्ट अथवा अनुचित है। क्योकि उस दशा में सेव्य-सेवक-भाव (=स्वामी और नौकर के परस्पर सबध) का विपर्यय हो जाता है।

यदि स्वामी, अपने स्वरूप को भूलकर, भृत्यो का अनुवर्तन करता है (= उनके ही पीछे चलता है) और उनके संग में ही मौज करता है, तो इससे अनर्थ ही होता है।

जो अपने आत्मा के स्वरूप को भूलकर इन्द्रियो के विषयो मे ही रत रहते है, वे साख्य-शास्त्र मे दिये गये निदर्शन में उल्लिखित राजपुत्र के समान[1] दु ख के भागी होते हैं।

---

१ इस प्रसग मे "राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात्" (४।१) इस साख्यसूत्र को देखिए। उसका अभिप्राय यह है कि ससार मे फँसा हुआ जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ है। जब कोई तत्त्वदर्शी उसको तात्त्विक उपदेश देता है, तभी उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। यहाँ दृष्टान्त दिया है किसी ऐसे राजपुत्र का जो किसी महान् सकट के कारण अपने परिवार से वियुक्त होकर 'मै राजा का पुत्र हूँ' ऐसा न जानकर नीच सगति में फँसकर दुर्दशा में ग्रस्त हो जाता है और अन्त में किसी के उपदेश से वस्तुस्थिति को जानकर उस दुर्दशा से अपना उद्धार करता है।

सयम के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन नीचे किया गया है —

[१०]

आत्मा में अनन्त शान्ति का स्रोत

सर्वासामपि सिद्धीना संयमः साधनं मतम् ।
समुन्नतेश्च सर्वस्या रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥५६॥
नूनं शक्तेरनन्ताया· स्रोत आत्मनि विद्यते ।
परमज्ञानमूढाना तथ्यमेतत्तिरोहितम् ॥६०॥
अत एव तिरोभूतधैर्या दुर्बलमानसा. ।
अनुत्साहा अकर्मण्या लोके प्रायेण मानवा ॥६१॥
अथाप्यभिज्ञा ये कश्चित्तस्या शक्तेरसंशयम् ।
उपयोगमजानन्तो व्यग्रा नित्यं समासते ॥६२॥
तस्मादपव्ययं शक्तेरन्यथाव्ययमेव वा ।
अकृत्वा संचयं कुर्वन्नुपयुञ्जीत तत्त्ववित् ॥६३॥
संयमेनेति शब्देन स एवार्थो मनीषिभि ।
मन्यते सुतरा तस्य महत्त्वमपि ते जगु ॥६४॥
असयतात्मना किंचित्कार्यं कर्तुं न शक्यते ।
वार्तैव तु पुनस्तस्य का स्यादात्मसमुन्नते. ॥६५॥
संप्राप्ता पश्चिमावस्था जीवनस्य तु यैर्बुधै. ।
संयम सर्वयत्नेन सेव्यता तैर्निरन्तरम् ॥६६॥

सयम सब सिद्धि का साधन माना गया है, और यही प्रत्येक प्रकार की उन्नति का सर्वोत्कृष्ट रहस्य है ।

निश्चय ही आत्मा में अनन्त शक्ति का स्रोत विद्यमान है। परन्तु जो अज्ञानी हैं उनसे यह तथ्य छिपा हुआ है ।

इसीलिए ससार मे मनुष्य प्राय धैर्य से हीन, दुर्बल मन वाले, उत्साहहीन और अकर्मण्य (देखने मे आते है) ।

[११]

ईश्वर का वरद हस्त

अवस्थास्वपि सर्वासु यासु वर्तामहे वयम् ।
ईशस्य वरदो हस्तो भावनेयं प्रशस्यते ॥६७॥
नूनं सृष्टिरियं करुणावरुणालयेन देवेन ।
कल्याणकामनाभिर्जीवानां निर्मितास्माकम् ॥६८॥
तस्माद्धीरो मर्त्यः कामपि कष्टां दशां समापन्नः ।
पश्येत्तत्र हि निहितं कारुण्यं देवदेवस्य ॥६९॥

जीवन की सब अवस्थाओं में, जिनमें से हम गुजरते हैं, 'ईश्वर का वरद हस्त (हमारे ऊपर) है' यही भावना प्रशंसनीय है ।

यह निश्चय है कि करुणा के समुद्र परमेश्वर ने (यह) सारी सृष्टि हम सब जीवों की कल्याण-कामनाओं से ही निर्मित की है ।

इसलिए किसी भी कष्ट-प्रद दशा को प्राप्त हुए धैर्यवान् मनुष्य को चाहिए कि वह उस दशा में निहित देवों के देव (परमेश्वर) की करुणा को ही देखे।

मनुष्य के जीवन में जो विभिन्न अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं, उनके संबध में साम्य-शास्त्र की दृष्टि का प्रतिपादन नीचे की दो रचनाओं में किया गया है —

[१२]

अवस्थाओं का साक्षित्व

अवस्थानामहं साक्षी नावस्था ईशते मम।
उपेक्षाया नरस्तासां स्वाराज्यमधिगच्छति ॥७०॥

उपेक्षा क्रियते चेत्ता विधवेव गतप्रभा।
निष्प्रभावा प्रजायन्ते नूनं मन्त्रैरिवोरगा ॥७१॥

अवस्थाओं का मै साक्षी हूँ, अवस्थाओं का प्रभुत्व मेरे ऊपर नही है। अवस्थाओं की उपेक्षा कर देने पर मनुष्य स्वाराज्य (= आध्यात्मिक स्वराज्य) को प्राप्त कर लेता है।

यदि अवस्थाओं की उपेक्षा कर दी जाती है, तो वे एक विधवा के समान प्रभारहित होकर निष्प्रभाव हो जाती है, ठीक उसी तरह जैसे मन्त्रो से सर्प निष्प्रभाव हो जाते है।

[१३]

काँच के भाव से रत्नों का विक्रय

अवस्थास्वपि सर्वासु ध्रुवं यदविचालि च।
तत्त्वं तद्वस्तुतो रूपं मदीयमिति भावय ॥७२॥

मन प्रसाद सौम्यत्वं शान्तिरार्जवमेव च।
धनेनैतेन धनिनो धन्या नित्यं समासते ॥७३॥

धनेनैतेन हीना ये धनिनोऽप्यधना हि ते।
दीनाश्चिन्ताशतैर्नूनं तत्तद्भाववशं गता. ॥७४॥
प्रसन्नताव्ययेनातो ये यत्किंचिदुपासते।
कांचमूल्येन रत्नाना विक्रयं ते हि कुर्वते ॥७५॥

सब ही अवस्थाओ मे जो ध्रुव और विचलित न होने वाला तत्त्व है, वही वास्तव मे मेरा रूप है—तुम्हे ऐसी भावना करनी चाहिए।

मन प्रसाद, सौम्यत्व, शान्ति और आर्जव—इस धन से जो धनी है (अर्थात् जिनमे ये गुण विद्यमान है), वे सदैव धन्य है।

पर जो इस धनसे हीन हैं, वे (लौकिक दृष्टि से) धनवान् होते हुए भी वास्तव मे निर्धन हैं। तत्तद् भावो के वश मे रहते हुए वे सैकड़ो चिन्ताओ के कारण दीन ही होते है।

इसलिए प्रसन्नता के व्यय से जो जिस-किसी (साधारण) वस्तु की उपासना करते है (= उसमे रत रहते है), वे सचमुच कांच के मूल्यपर रत्नो की बिक्री करते है।

केनापि हेतुना तस्मान्मा त्याक्षीश्चित्तसुस्थताम्।
कारणं सर्वसिद्धीना लक्ष्यं चापि यतो हि सा ॥७६॥
एकतश्चित्तसंतोष एकत सर्वसिद्धय।
चित्तस्वास्थ्यस्य सामुख्ये कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥७७॥
यत्किंचित्कारणात्तस्माद् व्यग्रस्त्वं यदि जायसे।
क्रुद्ध कस्मैचिदात्मानं हन्यात् तेन समं हि तत् ॥७८॥
अवस्था सर्वजगत प्रिया वाप्यप्रियाश्च या।
'गुणा गुणेषु वर्तन्त' इत्येवं ता विभावय ॥७९॥
'द्रष्टा त्वं दृश्यजगतो नाटकस्येव विद्यसे।'
सिद्धान्तमिममारूढो लोकयात्रापरो भव ॥८०॥

इसलिए किसी भी हेतु से चित्त की स्वस्थता को तुम न छोडो, क्योकि चित्तकी स्वस्थता सब सिद्धियो का कारण होने के साथ-साथ (मनुष्य के जीवन का) लक्ष्य भी है।

एक ओर चित्त के सन्तोष को और दूसरी ओर सब सिद्धियो को यदि रखा जाये, तो चित्त के स्वास्थ्य के सामुख्य मे वे सिद्धियाँ तुच्छ है, अर्थात् कुछ भी महत्त्व नही रखती है।

इसलिए जिस किसी (साधारण) कारण से यदि तुम व्यग्र हो जाते हो, तो यह ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति किसी से क्रुद्ध होकर अपना ही हनन (= आत्म-घात) कर डाले।

सारे जगत् की अवस्थाओ के सम्बन्ध मे, चाहे वे प्रिय हो अथवा अप्रिय, ऐसा समझो कि वे (सत्त्व, रजस् और तमस्) गुणो की पारस्परिक घात-प्रतिघात-रूप ही है।

एक नाटक से समान ही इस दृश्य जगत् के तुम द्रष्टा हो—इस सिद्धान्त पर आरूढ होकर तुम लोक-यात्रा करो।

[१४]

भगवन्नाम-संकीर्तन का महत्त्व

कस्मिन्नपि क्षणे भ्रात शरीरेऽस्मिन्नसंशयम्।
परस्य देवदेवस्य साक्षात्त्वं कर्तुमर्हसि ॥८१॥
दु खसंततिसंतप्तश्चिन्तोद्विग्नो यदा भवान्।
जायते, तादृशे काले स्वान्तर्दृष्टि प्रसार्यताम् ॥८२॥
तत्रास्ते शाश्वतं तेजो निश्चलं निर्मलं सदा।
सद्यो यद्दर्शनेनैव निश्चिन्तो जायते नर ॥८३॥
दु खानि दूरतो यान्ति चिन्ता क्वापि विलीयते।
सूर्योदये तमासीव निशा वा भयदायिनी ॥८४॥

अयि भाई! किसी भी क्षण इसी शरीर मे, नि सदेह रूप में, तुम देवो के देव परमेश्वर को साक्षात् कर सकते हो।

जब कभी आप दु खो की परम्परा से सतप्त और चिन्ता से उद्विग्न हो, उस समय अपने अन्दर की ओर दृष्टि डालिए।

वहाँ (वह) शाश्वत, निश्चल और निर्मल तेज सदा विद्यमान रहता है, जिसके दर्शन-मात्रसे मनुष्य तत्काल निश्चिन्त (= चिन्तारहित) हो जाता है,

(और) सूर्य के उदय होने पर अन्धकार की तरह, अथवा भय देनेवाली रात्रि के समान, दु ख दूर भाग जाते है और चिन्ता (भी) कही विलीन हो जाती है ।

बहूनि खलु नामानि तस्य दिव्यस्य तेजस· ।
प्रवृत्तानि प्रवर्तन्ते प्रवर्त्स्यन्ति न संशय ॥८५॥
अग्निर्ज्योति शिवो विष्णुरिन्द्रो वरुण एव च ।
मित्रोऽर्यमा तथा 'धम्मो' शक्तिरोकार एव वा ॥८६॥
इत्येवं बहुधा मूलतत्त्वमाहुर्मनीषिण ।
प्रवृत्तीनामनन्तत्वाद् रुचीना चानुसारत. ॥८७॥
अहन्तया परिच्छिन्ना या व्यक्तिरनुभूयते ।
सा वै नूनमधिष्ठान मन्तव्या क्षोभशोकयो ॥८८॥
तत उत्थाय तत्कालं परतत्त्वस्य चिन्तने ।
प्रसादं परमा शान्ति ज्ञानी समधिगच्छति ॥८९॥
चिन्तने नामसाहाय्यमिति कस्य तिरोहितम् ।
तत्तन्नाम्ना महत्त्वं यदेतस्मादेव कारणात् ॥९०॥
गृहीत्वा नामसाहाय्यं परतत्त्वावलम्बनात् ।
अहताया समुत्थाय प्रसादमधिगच्छति ॥९१॥
व्यक्तित्वं परतत्त्वं च सख्यभावेन तिष्ठत ।
मनुष्येऽस्मिन् सहैवेति श्रुतिराह वचोऽमृतम् ॥९२॥

उस दिव्य तेज के बहुत-से नाम भूतकाल में प्रवृत्त हुए, वर्तमान मे है, और, इसमे सदेह नही, भविष्यमे भी प्रवृत्त होगे,

(जैसे–) अग्नि, ज्योति, शिव, विष्णु, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, धम्म, शक्ति अथवा ओकार ।

इस प्रकार, मनुष्य की प्रवृत्तियो के अनन्त होने से और विभिन्न रुचियो के अनुसार, मनीषी मूलतत्त्व को अनेक तरह से (= अनेक नामो से) कहते हैं ।

अहकार से परिच्छिन्न जिस व्यक्तित्व का हम अनुभव करते हैं, वास्तव में क्षोभ और शोक का अधिष्ठान वही है।

उस (व्यक्तित्व) से ऊपर उठकर तत्काल परतत्त्व का चिन्तन करने पर, ज्ञानी मन प्रसाद और परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

चिन्तन मे नाम से सहायता मिलती है, यह किससे छिपा है। (परमतत्त्व के) तत्तद् नामो का जो महत्त्व है वह इसी कारण से है।

नाम की सहायता लेकर परतत्त्व के अवलम्बन से अहन्ता से ऊपर उठकर (साधक) प्रसाद को प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे नीचे के धरातल पर खडा हुआ व्यक्ति ऊपर से लटकती हुई रस्सी जैसी वस्तु को पकड कर झट ऊपर के धरातल पर पहुँच सकता है, इसी प्रकार परमात्मा के नाम की सहायता से साधक अहता के धरातल से ऊपर उठकर वास्तव मे परमात्मा तक पहुँच सकता है।

'व्यक्तित्व (= जीव) और परतत्त्व (= परमात्मा) मनुष्य मे साथ-साथ ही सखा-भाव से रहते हैं'—यह अमृत-सदृश बात श्रुति कहती हैं।[1]

मनुष्य को जीवन मे आने वाली समस्याओ के समाधान के लिए करुणामय भगवान् से प्रेरणा लेनी चाहिए —

[१५]

भगवान् की प्रेरणा

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियन्तृ यत्।
समाधानं समस्याना याचेऽहं तदसंशयम् ॥९३॥
न क्रोधो न च मात्सर्यं हिंसाया भावना तथा।
स्थानं लभेत मच्चित्ते प्रति तं यो विरोधकृत् ॥९४॥

---

१ दे० "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परि षस्वजाते"।
(ऋग्वेद १।१६४।२०)

विधानमतिगूढ यद् विश्वं व्याप्य प्रवर्तते ।
तदत्र कार्यकृद् भूयादित्याशासे निरन्तरम् ॥६५॥

चिन्तात्र विषये नूनमल्पसत्त्वस्य मादृश· ।
दुर्भावनाप्रवृत्तिर्वा सर्वथैव निरर्थिका ॥६६॥

कामं प्रयत्नमातिष्ठेन्नरो विषय ईदृशे ।
न हानिर् यदि विश्वास परतत्त्वेऽविकल्पित ॥६७॥

इममेवार्थमाश्रित्य श्रुतिराह वचोऽमृतम् ।
हृदयस्पर्शि यन्नूनं श्रद्धाविश्वासदायकम् ॥६८॥

देवस्य सवितुर्भर्गस्तद्वरेण्यमुपास्महे ।
यत्त प्रवृत्तिर्विश्वस्य "धियो यो न. प्रचोदयात्" ॥६६॥

प्रेम और करुणा का धाम जो तत्त्व विश्व का नियन्ता है, मै (जीवन की) समस्याओ के निश्चित समाधान के लिए उसी से प्रार्थना करता हूँ !

जो व्यक्ति मेरा विरोध करता है उसके प्रति मेरे चित्त मे न तो क्रोध, न मात्सर्य और न हिंसा की भावना स्थान पाये !

जो अतिगूढ विधान विश्व को व्याप्त करके प्रवृत्त हो रहा है, वही इस विषय मे (मेरी) सहायता करे, मै यही निरन्तर चाहता हूँ !

इस विषय में मुझ जैसे अल्पसत्त्व (=दुर्बल) व्यक्ति की चिन्ता अथवा दुर्-भावना में प्रवृत्ति सर्वथा ही निरर्थक है ।

ऐसे विषय मे मनुष्य भले ही प्रयत्न करे, इसमें कोई हानि नही है, यदि उसे परतत्त्व में (= मूल-तत्त्व स्वरूप परमात्मा में) पक्का विश्वास है ।

इसी अर्थ को लेकर श्रुति,[1] अमृत-रूपी (निम्नस्थ अभिप्राय से युक्त) वचन को कहती है, जो नि सन्देह हृदयस्पर्शी है और श्रद्धा तथा विश्वास को देने वाला है—

'सवितृ (=सबके प्रेरक) देव के उस वरणीय भर्ग (=तेज' स्वरूप) की हम उपासना करते है, जो विश्व की प्रवृत्ति का स्रोत है और जो (हमारी प्रार्थना है कि) हमारी बुद्धियो को (सन्मार्ग की ओर) प्रेरणा प्रदान करे।'

उपरिनिर्दिष्ट अर्थ को ही दूसरे प्रकार से प्रतिपादित करते हैं —

[१६]

निर्भय जीवन-यात्रा

तवान्त पुरुषो योऽसौ पुरुषोत्तम इतीरित ।
बुद्धया विशुद्धया युक्त' कारुण्येन तथैव च ॥१००॥

अपि कृत्स्नस्य जगत सोऽन्तर्यामी न संशय. ।
तस्यैव शरणं गच्छ सर्वकार्येषु सर्वदा ॥१०१॥

सर्वकर्मफलं तस्मै निर्णयाय समर्पयन् ।
प्रसन्नश्च निरातङ्को विचरेस्त्वं गतव्यथ ॥१०२॥

तुम्हारे अन्दर जो वह पुरुष है, जिसको 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है, जो विशुद्ध बुद्धि से तथा कारुण्य से भी युक्त है,

निश्चय ही वह सारे ही जगत् (=विश्व) का अन्तर्यामी है। सब कार्यों मे तुम सदा उसी की शरण मे जाओ।

सब कर्मों के फल को उसको निर्णयार्थ समर्पित करते हुए तुम, प्रसन्न-चित्त निर्भय और व्यथाओ से रहित होकर, विचरण करो (= जीवन-यात्रा करो)।

आनन्दानुभव के परम रहस्य का उपदेश करते हुए कहते है —

[१७]

रमणीयतम रत्न

रमणीयतरं रत्नममूल्यमचलद्युति ।
विद्यते हृदयस्यान्तर्भवतस्ते न संशयः ॥१०३॥
अमन्दानन्ददं नूनं चिन्ताव्याधिविनाशनम् ।
यद् दृष्ट्वा नापरं किञ्चिद् द्रष्टव्यमवशिष्यते ॥१०४॥
यल्लब्ध्वा नापरं किञ्चिल्लब्धव्यमवशिष्यते ।
यज्ज्ञात्वा नापरं किञ्चिज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥१०५॥
विमुखीभावमापन्नास्तत एव तु लौकिकाः ।
क्लेशसंततिसंतप्ता जायन्ते खिन्नमानसाः ॥१०६॥
शोकस्यावसरे तस्मान्मोहस्यावसरे तथा ।
अन्तर्दृष्टिः प्रयत्नेन तद्रत्नमवलोकयेत् ॥१०७॥
रहस्यं परमं ह्येतद्ये जानन्ति मनीषिणः ।
शोकमोहस्थितिं तीर्त्वा विचरन्ति महीतले ॥१०८॥

अयि भाई ! अत्यन्त रमणीय, अमूल्य और अचल द्युति से युक्त रत्न तुम्हारे हृदय के अन्दर विद्यमान है, इस में कोई सन्देह नहीं है।

(वह रत्न) निश्चय ही अमन्द आनन्द का देने वाला और चिन्तारूपी व्याधि का नाश करने वाला (है), जिसको देखकर कोई दूसरी द्रष्टव्य वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती है, जिसको पाकर कोई दूसरी लब्धव्य वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती है, जिसको जानकर कोई दूसरी ज्ञातव्य वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती है।

उसी से विमुखी-भाव को प्राप्त होने के कारण लौकिक व्यक्ति क्लेशों की परम्परा से संतप्त और खिन्न मन वाले रहते है।

इस लिए शोक के तथा मोह के अवसर के आने पर (मनुष्य को चाहिए कि वह) प्रयत्न-पूर्वक अन्तर्दृष्टि होकर (=अपने अन्दर देखता हुआ) उसी रत्न का अवलोकन करे।

जो मनीषी लोग इस परम रहस्य को जानते है, वे शोक और मोह की स्थिति को पार करके पृथ्वी पर विचरते है (=जीवन-यात्रा करते है)।

[१८]

सब दुःखों का विनाश

व्यक्तित्वभावना त्यक्त्वा देवदेवे स्थितिं कुरु।
प्रहाणं सर्वदु:खानां येन सद्य प्रजायते ॥१०९॥

सौन्दर्यदर्शने चेतो रमते यदि ते सखे!।
समन्ताद् व्यापि तत्तस्य यावद्विश्वं निभालय ॥११०॥

श्रवणे दिव्यगानस्य रमते यदि ते मनः।
संगीतं विश्वसंव्यापि प्रत्यक्षमनुभूयताम् ॥१११॥

क्रीडाविलासलोलं चेच्चेतस्ते वर्तते तदा।
ध्येय शिव स शक्त्या य. क्रीडन्नास्ते निरन्तरम् ॥११२॥

अनन्तानन्तविश्वस्य स्थितौ यत्स्थापकं भवत्।
तवान्त संस्थितं भाति तत् त्वं नित्यं समाश्रय ॥११३॥

वर्तमानं समालम्ब्य कर्तव्यं कुरु सर्वदा।
भविष्यं यच्च भूतं तद् विश्वेशाय समर्पय ॥११४॥

देवो यो विश्वसंव्यापी विश्वभृद् विश्वभावन।
तस्याश्रयं विना कोऽपि कथं जीवितुमर्हति ॥११५॥

व्यक्तित्व की भावना को छोड़कर देवो के देव अर्थात् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर मे स्थिति करो। ऐसा कर लेने पर समस्त दु खो का विनाश तत्काल हो जाता है।

हे मित्र! यदि तुम्हारा चित्त सौन्दर्य के दर्शन मे रमता है, तो उस (देवदेव) के सर्वत्र व्यापक सौन्दर्य को विश्व भर में देखो!

यदि तुम्हारा मन दिव्य गान को सुनने का अभिलाषी है, तो (उस देव-देव के) विश्वव्यापी सगीत का प्रत्यक्ष अनुभव करो!

यदि तुम्हारा चित्त क्रीड़ा के विलास में उत्सुक है, तो उन भगवान् शिव का ध्यान करो जो निरन्तर भगवती शक्ति के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं।

जो परम तत्त्व अनन्तानन्त विश्व की स्थिति का स्थापक होता हुआ भी तुम्हारे अन्दर स्थित होकर प्रकाशमान हो रहा है, तुम नित्य उसी का आश्रय ग्रहण करो।

तुम्हें चाहिए कि तुम सर्वदा वर्तमान का ही अवलम्बन करके अपने कर्तव्य को करो। जो भविष्य अथवा भूत है उसे विश्वेश्वर भगवान् को समर्पित कर दो।

जो विश्व में व्यापक, विश्व का भरण-पोषण करने वाला और विश्व का स्रष्टा देव है, उसके आश्रय के बिना कौन कैसे जीवन-यात्रा कर सकता है?

॥ इति जीवनज्योतिषि आनन्दानुभवो नाम दशमो रश्मि ॥

एकादशो रश्मिः

सोऽयं मे निधिरव्ययः

अस्ति रत्नमनागसः । (ऋग्वेद ८।६७।७)
विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । (निरुक्त २।४)
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । (कठोपनिषद् १।१।२७)

●

ग्यारहवीं रश्मि

मेरी अक्षय निधि

स्वच्छ हृदय विद्वान् के लिए निधिरूप अमूल्य रत्नो की कही भी कमी नही होती । (ऋग्वेद ८।६७।७)

विद्या ने विद्वान् के पास आकर कहा कि तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरी अमूल्य निधि हूँ । (निरुक्त २।४)

मनुष्य की तृप्ति सासारिक धन से नही हो सकती ।
(कठोपनिषद् १।१।२७)

मेरी अक्षय निधि

नर उवाच

आनन्दानुभवो नाम विस्तरो यः प्रपञ्चित ।
तं श्रुत्वा धन्यमात्मानं मन्येऽहं तत्त्ववित् प्रभो ! ॥ १ ॥

परमत्रापि विषये जिज्ञासा जायते मम ।
प्रेमकारुण्ययोर्धामन् भगवंस्तामपाकुरु ॥ २ ॥

आनन्दानुभवावस्था लब्धेयं यैर्मनीषिभिः ।
जायते कीदृशी चित्तवृत्तिस्तेषां जगत्प्रति ? ॥ ३ ॥

नर ने कहा

हे तत्त्ववित् प्रभो ! 'आनन्दानुभव' नामक प्रकरण का जो आपने विस्तृत वर्णन किया है, उसको सुनकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ ।

पर इस विषय मे भी मेरी एक जिज्ञासा है । प्रेम और कारुण्य के धाम हे भगवन् ! आप उसको दूर कीजिए ।

जिन मनीषियो ने यह आनन्दानुभव की अवस्था प्राप्त कर ली है, उनकी चित्तवृत्ति जगत् के प्रति कैसी होती है ?

नारायण उवाच

आनन्दानुभवावस्थासंपन्नस्य मनीषिण. ।
अवर्ण्यश्चित्तसन्तोष सर्वत्रैवोपतिष्ठते ॥ ४ ॥

येनेदं मधुमद्विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास्तत्पदं तेन लभ्यते ॥ ५ ॥

सौन्दर्यं विश्वविस्तीर्णं कवय. क्रान्तदर्शिन: ।
पश्यन्त्यलौकिकं यत्र तत्पदं तेन लभ्यते ॥ ६ ॥
तदेतामद्भुता दिव्यां दृष्टिं लब्ध्वा समन्तत. ।
अक्षयेणेव निधिना सम्पन्न: सोऽवतिष्ठते ॥ ७ ॥

श्री नारायण ने कहा

आनन्दानुभव की अवस्था से सपन्न मनीषी को सर्वत्र अवर्णनीय चित्त-सतोष मिलता है ।

वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जिससे यह विश्व मधुमान् हो रहा है, जो स्वय सबसे अधिक मधुमान् है और जो (उपनिषदो की[1]) मधु-विद्या का मधु है ।

वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जिसको प्राप्त करके क्रान्तदर्शी कविजन विश्वमे विस्तीर्ण अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन करते हैं ।

इस प्रकार अपनी चारो ओर अद्भुत दिव्य दृष्टि को पाकर, मानो अक्षय निधि से सपन्न होकर, वह अवस्थित रहता है ।

---

१ दे० बृहदारण्यकोपनिषद् २।५

[1]

प्राकृतिक शोभा-संपत्ति

दृढतास्थिरतादर्शा लोकोपकृतितत्परा. ।
एकान्तशान्तिधामानि गिरय सज्जनै समा ॥ ८ ॥
वनलक्ष्म्या निवासास्ता सुरम्या वनराजय: ।
मधुराराविणो नानारूपिण पक्षिणस्तथा ॥ ९ ॥
नेत्रोत्सवं वितन्वन्ति दिव्यगन्धानि भूरिश ।
पुष्पाणि प्रकृतेर्देव्या यैर्हासायते ननु ॥१०॥
हृद्यै. कलकलालापैर्लापिनी वारिवाहिणी ।
अमन्दानन्ददो नित्यं सोऽयं मे निधिरव्यय: ॥ ११॥

सज्जनो के समान दृढता और स्थिरता के आदर्श, लोकोपकार मे तत्पर, और एकान्त शान्ति के धाम पर्वत,[1]

वन-लक्ष्मी की निवास-भूत वे सुरमणीय वनो की श्रेणियाँ,

तथा मधुर शब्द करने वाले, विचित्र रूप-रगो के पक्षी,

नेत्रो को प्रसन्नता देने वाले, दिव्य गन्धो से युक्त, अनेकानेक प्रकार के पुष्प, जो प्रकृति देवी के हास जैसे प्रतीत होते है, और

मनोरम कलकला शब्दो को करने वाली नदी—

यह अमन्द आनन्द को देनेवाली मेरी अक्षय निधि है !

---

१ सज्जन अपने चरित्र मे दृढ और वचन मे स्थिर होते है। वे परोपकारी होते है और उनके मन मे शान्ति रहती है। पर्वत भी दृढ और स्थिर होते हैं। वे लकड़ी, पत्थर, नदियो आदि के द्वारा ससार का हित-साधन करते है और उनमे शान्ति विराजती है।

[२]

समुद्र

स्वच्छोच्छलज्जलै. पूर्णोऽसंख्यानां यादसां पति.।
आकुलोऽपि तरङ्गैर्यो मर्यादां नातिवर्तते ॥१२॥
गाम्भीर्येण बृहत्त्वेन साश्चर्यमिव मानवम्।
कुर्वंल्लोकातिगावस्थामासादयति सत्वरम् ॥१३॥
यस्मिन्नदीनदानां वै नैकनामानि बिभ्रताम्।
ब्रह्मणीव विभेदानामेकत्वमुपजायते ॥१४॥
नानासंतापतप्ताया पृथिव्याश्चित्तशान्तये ।
मन्ये विनिर्मितो धात्रा सोऽयं मे निधिरव्यय. ॥१५॥

उछलते हुए स्वच्छ जलो से परिपूर्ण,

असख्य जल-जन्तुओ का नाथ,

तरङ्गो से आन्दोलित होने पर भी जो अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नही करता,

जो अपनी गभीरता और विशालता के कारण मनुष्य को आश्चर्य-चकित करता हुआ सद्य लोकोत्तर अवस्था को पहुँचा देता है,

जिसमे अनेको नामो वाली नदियाँ और नद, ब्रह्म मे अनेक प्रकार के भेदो के समान, एकत्व को प्राप्त हो जाते है,

जिसको सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा ने मानो नाना प्रकार के सतापो से सतप्त पृथिवी के चित्त को शान्ति देने के लिए रचा है,

ऐसा जो समुद्र—

वही मेरी अक्षय निधि है!

[३]

अम्बर-मण्डल

स्वयंसूर्यैरसंख्यैर्यदस्मत्सूर्यातिशायिभि ।
तारागणै समाच्छन्नं मुक्तामणिगणैरिव ॥ १६ ॥

नानासंतापखिन्नाना मनोनिर्वाणदायिना ।
मनोज्ञचन्द्रिकासंपच्चारुचन्द्रेण चर्चितम् ॥१७॥
त्रिलोक्या प्राणशक्तेर्यन्निधानेन विवस्वता ।
सवित्रा तमसा हन्त्रा प्रेरकेण धिया तथा ॥१८॥
ज्योतिषा ज्योतिषा दीप्तं भास्वदम्वरमण्डलम् ।
मण्डनं प्रकृतेर्देव्या. सोऽयं मे निधिरव्यय. ॥१९॥

हमारे सूर्य मे भी वड़े, स्वय सूर्य-रूप, असख्य तारागणो से, मानो मुक्तामणि के समूहो से, सव्याप्त[1],

अनेक प्रकार के सतापो से खिन्न मनुष्यो के मनो को शान्ति देनेवाले, मनोरम चाँदनी की सपत्ति से सुन्दर चन्द्रमा से शोभायुक्त[2],

तीनो लोको की प्राण-शक्ति के निधि रूप, उत्पादक शक्ति के उद्गम, अन्धकार को भगाने वाले, वुद्धियो के प्रेरक, तथा ज्योतियो के भी प्रकाशक सूर्य भगवान मे प्रदीप्त[3],

ऐसा जो प्रकृति देवी का अलकार-भूत प्रभा-युक्त आकाश-मण्डल है—
वही मेरी अक्षय निधि है ।

[४]

पवित्र वाड्मय

ऋषिभिर्मुनिभि पूर्वैराचार्यैस्तत्त्वदर्शिभि ।
तप स्वाध्यायनिरतै शान्तैर्दान्तैर्मनीषिभि. ॥२०॥
लोककल्याणबुद्धयैव नैव स्वार्थपरायणै ।
वाड्मयं यन्महत्सृष्टं सोऽयं ते निधिरव्यय ॥२१॥

---

१. अर्थात्, कृष्ण पक्ष की रात्रि का आकाश-मण्डल ।
२ अर्थात्, शुक्ल पक्ष की रात्रि का आकाश-मण्डल ।
३ अर्थात्, दिन मे सूर्य से प्रकाशित आकाश-मण्डल ।

तत्त्वदर्शी, तप और स्वाध्याय मे तत्पर, शान्त, दान्त और मनीषी ऋषियो, मुनियो और प्राचीन आचार्यों ने, स्वार्थपरायण होकर नही, किन्तु लोक के कल्याण के विचार से ही, जिस उत्कृष्ट वेदादि के वाङ्मय की सृष्टि की है—

वही मेरी अक्षय निधि है।

[५]

शाश्वत पावन ज्ञान

इन्द्रियार्थेष्वसक्ता ये प्राप्ता आध्यात्मिकी स्थितिम्।
स्वार्थदृष्टिमतिक्रम्य विश्वतादात्म्यमाश्रिता. ॥२२॥
सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तप।
सत्यमेव परं लक्ष्यं येषा त ऋषयो मताः ॥२३॥
त एव ऋषय साक्षात् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
यदेतत्पावनं ज्ञानं सर्वभूतहितावहम् ॥२४॥
देशकालानवच्छिन्नं शाश्वतं सत्यमक्षयम्।
तदेतदमृतं मन्ये सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥२५॥

इन्द्रियो के विषयो में आसक्त न होकर,
जिन्होने आध्यात्मिकी स्थिति को प्राप्त कर लिया है,
स्वार्थ की दृष्टि का अतिक्रमण करके,
जिन्होने विश्व के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है,
जिनकी दृष्टि मे सत्य ही परब्रह्म है,
सत्य ही परम तप है,
और सत्य ही परम लक्ष्य है,
उन्ही को ऋषि माना गया है।
वे ही ऋषिजन,
सब प्राणियो का हित करने वाले,
देश और काल से जो अवच्छिन्न नही है ऐसे,

शाश्वत, अक्षय और सत्य-रूप
पावन ज्ञान को आर्षचक्षु से देखते है ।
मैं उसी (ज्ञान) को अमृत मानता हूँ ।
वही मेरी अक्षय निधि है ।

[६]

महात्माओं का पवित्र जीवन

श्रमेण तपसा युक्ता संयमेन पुरस्कृता ।
अनुशासनसंजुष्टा व्रतिनो ब्रह्मचारिण ॥२६॥

उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं यत्सता मतम् ।
तस्य संपादने दक्षा रुद्धा विघ्नशतैरपि ॥२७॥

तापत्रयेण तप्ताना प्राणिनामार्त्तिनाशने ।
प्राणाना संशयेनापि तत्परा ये समासते ॥२८॥

श्रद्धाविश्वासयोर्मार्गमास्थिता ये निरन्तरम् ।
निर्माया निरहंकारा लोककल्याणसेतव ॥२९॥

तमसो रजसोऽवस्था अतीत्य समवस्थिता ।
सन्तो ये सत्त्वमार्गस्था सत्यसंशोधने रता. ॥३०॥

एतादृशाना पुण्याना जीवनं यन्महात्मनाम् ।
ददाति प्रेरणा नित्यं सोऽयं मे निधिरव्यय. ॥३१॥

श्रम और तप से युक्त, सयम से पुरस्कृत तथा अनुशासन से सपन्न जो व्रती ब्रह्मचारी है,

उत्तरोत्तर उत्कर्ष से युक्त जो सत्पुरुषो का अभिमत जीवन है, उसके सपादन में विघ्न-शतो की रुकावटो के होने पर भी जो दक्ष है,

प्राणो के सशय के उपस्थित होने पर भी, ताप-त्रय से सतप्त प्राणियो के दु ख के दूर करने मे जो तत्पर रहते है,

जो निरन्तर श्रद्धा और विश्वास के मार्ग पर अवस्थित है, छल-कपट और अहकार से रहित है और लोक-कल्याण के सेतु है,

तमस् और रजस् की अवस्थाओ का अतिक्रमण करके जो सत्पुरुष सत्त्व-मार्ग पर स्थित होकर सत्य के संशोधन मे रत हैं,

ऐसे पवित्र महात्माओ का जो जीवन है वह सदा प्रेरणा-प्रद होता है।

वही जीवन मेरी अक्षय निधि है।

[७]

पुरुषसिंहों का शुभ्र यश

धर्मरक्षाकृते प्राणानुत्स्रष्टुं ये समुद्यता.।
वीरव्रतैकनिष्णाता साहसोत्साहमूर्तय ॥३२॥

विघ्नराशीनरातीश्च मृद्नन्तस्तृणसन्निभम्।
शूरा. सत्यव्रता आर्यमर्यादाना समर्थका ॥३३॥

तेषा पुरुषसिहाना यशो यच्छुभ्रनिर्मलम्।
प्रकाशयज्जगत्कृत्स्नं सोऽयं मे निधिरव्यय ॥३४॥

धर्म की रक्षा के हेतु प्राणो की बलि देने के लिए जो समुद्यत रहते हैं, वीरो के व्रत (के पालन) में जो पूर्णतया निष्णात है और साहस तथा उत्साह की मूर्त्ति है,

विघ्नो की राशियो और शत्रुओ को तृण के समान कुचलते हुए जो शूर और सत्यव्रत है तथा आर्यों की मर्यादाओ के समर्थक है,

उन पुरुष-सिंहो का सारे जगत् को प्रकाशित करने वाला जो शुभ्र और निर्मल यश है—

वही मेरी अक्षय निधि है।

[८]

सत्पुरुषो का पावन वृत्त

कर्तव्यभावनापूतं दम्भाहङ्कारवर्जितम् ।
धर्म्यमाचरणं पुण्यं सर्वभूतहितावहम् ॥३५॥

ज्ञानं यद् वस्तुजातस्य वस्तुतो मूल्यबोधकम् ।
आत्मनोऽनात्मनश्चापि भेदस्य प्रतिपादकम् ॥३६॥

स्वार्थबुद्ध्या न संपृक्ता हृदयाद्या प्रवर्तते ।
अद्वैतशालिनी भक्तिरयश्चुम्बकयोरिव ॥३७॥

अहिंसा परमो धर्म सर्वभूतहितावहा ।
व्यक्तित्वभावना यस्या सम्मानं लभतेऽखिला ॥३८॥

स्नेहविश्वासयोर्धाम ह्यन्योन्यस्य कृते पुन. ।
कष्टं सहिष्णु यन्मैत्र्यं तुल्यं च सुखदु खयो. ॥३९॥

सता तत्पावनं वृत्तं भूमण्डलमिदं यत. ।
दिव्यलोकायते नूनं सोऽयं मे निधिरव्यय. ॥४०॥

कर्तव्य की भावना से पवित्र, दम्भ और अहकार से रहित, सब प्राणियो का हित करने वाला, धर्मानुकूल पवित्र आचरण,

वास्तव में वस्तुओ के मूल्य का बोधक और आत्मा तथा अनात्मा के भेद को बताने वाला ज्ञान,

स्वार्थ की बुद्धि से असपृक्त, हृदय से प्रवृत्त होने वाली, लोहा और चुम्बक के सदृश अद्वैत-शालिनी अर्थात् अकृत्रिम भक्ति,

सब प्राणियो का हित करने वाली परम-धर्म-रूप अहिंसा, जिसमें व्यक्तित्व की समस्त भावना सम्मान पाती है,

स्नेह और विश्वास का स्थान, एक दूसरे के लिए कष्ट सहने वाला तथा सुख और दु ख में एक रूप में रहने वाला मित्रता का भाव,

यह जो सत्पुरुषो का पावन वृत्त है, जिसके कारण यह भूमण्डल दिव्य-लोक-सा दीखता है—

वही मेरी अक्षय निधि है।

[९]

चित्त की पूर्ण स्वस्थता

आधिव्याधिसमुद्वेग आलम्बनमनुत्तमम्।
विश्वासाश्वासयोर्हानौ मन:संधारणं च यत् ॥४१॥

कृतघ्नतापिशाच्या वा मित्रद्रोहस्य रक्षस.।
स्वार्थस्य दुष्टवृत्तेर्वा घाते त्राणाय यन्मतम् ॥४२॥

प्रलोभनस्थितौ यद्वा वैफल्ये समुपस्थिते।
इष्टार्थस्य प्रहाणे वा परमं यत्परायणम् ॥४३॥

अभिमानेन दर्पेण पक्षपातेन वा पुनः।
मूढाना दुष्टबुद्धीना मार्गान्न च्यवते च यत् ॥४४॥

यदाश्रयेण तिष्ठन्त: सन्तश्चारित्रभूषणाः।
निर्विकारा निरातङ्का. संतरन्त्यापदापगा ॥४५॥

सर्वद्वन्द्वप्रसहने समर्थं निश्चलं दृढम्।
चित्तस्य तादृशं स्वास्थ्यं सोऽयं मे निधिरव्यय· ॥४६॥

आधि (= मनोविकार) और व्याधि के आवेग के समय जो अद्वितीय आलम्बन है, विश्वास और आश्वासन की हानि मे जो मन को शक्ति देता है,

पिशाची रूप कृतघ्नता के, राक्षस-रूप मित्रद्रोह के, तथा दुष्ट प्रवृत्तियो से युक्त स्वार्थ के आघात के समय जो रक्षा करता है,

प्रलोभन की स्थिति में, अथवा विफलता के उपस्थित होने पर, अथवा इष्ट पदार्थ के नष्ट हो जाने पर जो परम सहारा है,

दुष्ट-बुद्धि मूढ पुरुषो के अभिमान से, दर्प से, अथवा पक्षपात से जो अपने मार्ग से च्युत नही होता है,

जिसके आश्रय से रहने वाले, चारित्र्य ही भूषण है जिनका ऐसे सत्पुरुष, निर्विकार और निर्भय रहते हुए, आपत्ति की नदियो को पार कर जाते हैं,

समस्त द्वन्द्वो के सहने (या दवाने) मे सशक्त, निश्चल और दृढ, चित्त की वैसी जो स्वस्थता है—

वही मेरी अक्षय निधि है।

[१०]

सौम्य मनःस्थिति

अभिमानेन दम्भेन दर्पेण परिवर्जिता।
शान्ता न मायया स्पृष्टा संयमेन पुरस्कृता ॥४७॥

श्रद्धया च विवेकेन सत्यमार्गानुसारिणी।
लोककल्याणबुद्धयैव ज्ञानोपार्जनकारिणी ॥४८॥

हितबुद्धया समस्ताना प्राणिना या समन्विता।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टचारित्र्यपरिपोषिणी ॥४९॥

नैराश्येन विनिर्मुक्ता यासौ सौम्या मन स्थितिः।
सन्तुष्टा च प्रसन्ना च सोऽयं मे निधिरव्यय. ॥५०॥

अभिमान से, दम्भ से और दर्प से रहित,
शान्त, छल-कपट से अस्पृष्ट, और सयम से युक्त,
श्रद्धा और विवेक के साथ सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाली,
संसार के कल्याण की बुद्धि से ही ज्ञान का उपार्जन करने वाली,
समस्त प्राणियो के हित की बुद्धि से समन्वित,
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चारित्र्य को पुष्ट करने वाली,
नैराश्य से रहित, सन्तुष्ट और प्रसन्न,
जो सौम्य मन स्थिति है—
वही मेरी अक्षय निधि है।

[११]

अनन्त प्रभा

अनन्ता या प्रभा नित्या सर्वस्यान्त. प्रकाशते ।
जगदेतत्समस्तं तु यस्या अंशेन भासते ॥५१॥

सौम्या सौम्यतराशेपसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ।
स्रोतस्विनी सदानन्दवारिणा चिन्मयी च या ॥५२॥

कृतकृत्या जितात्मानो यस्या मज्जन्ति योगिन. ।
निर्धूतकल्मषा नूनं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥५३॥

जो अनन्त तथा नित्य प्रभा सबके अन्दर प्रकाशित हो रही है,

जिसके अश-मात्र से यह सारा जगत् भासित होता है,

जो स्वय सौम्य और सौम्यतर है। और समस्त सौम्य एवं सुन्दर पदार्थों की अपेक्षा अति सुन्दरी है,

जो सर्वदा आनन्दरूपी जल के प्रवाह से युक्त नदी के समान है और चैतन्य वाली है,

जिसमे अपने को जीतने वाले, पाप से रहित, कृतकृत्य योगी लोग डुबकी लगाते है—

वही मेरी अक्षय निधि है।

[१२]

प्रेम और कारुण्य का धाम

प्राणिना दु खतप्तानां सततं दु खनाशने ।
रताना यत्सता चित्ते प्रेमरूपेण भासते ॥५४॥

सत्यानुसंधानपरा लोकाना हितकाम्यया ।
सत्यरूपेण यन्नित्यं ज्ञानिन· पर्युपासते ॥५५॥

उद्वेगस्यावसादस्याशान्तेश्चित्तस्य धीमताम् ।
प्रतीकारार्थमुत्कृष्टममोघं साधनं च यत् ॥५६॥
सर्वप्रकाशकं तत्त्वं नित्यं विश्वनियन्तृ यत् ।
प्रेमकारुण्ययोर्धाम सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥५७॥

दुःखों से त्रस्त प्राणियों के दुःखों के नाश करने में सतत तत्पर सत्पुरुषों के चित्त में जो प्रेम के रूप में भासित होता है,

लोगों के हित की कामना से सत्य के अनुसन्धान में तत्पर ज्ञानी लोग जिसकी नित्य सत्य के रूप में उपासना करते हैं,

मनीषियों के प्रति चित्त के उद्वेग, अवसाद और अशान्ति के प्रतीकार के लिए जो उत्कृष्ट और अमोघ साधन है,

सबका प्रकाशक, नित्य, विश्व का नियन्त्रण करने वाला और प्रेम तथा कारुण्य का धाम जो (मूल) तत्त्व है—
वही मेरी अक्षय निधि है ।

[१३]

शाश्वत मूल तत्त्व

यदेतच्छाश्वतं तत्त्वं यतः सर्वं प्रवर्त्तते ।
यत्रैव च लयं याति येन सर्वमिदं ततम् ॥५८॥
यदुद्दिश्य प्रवर्त्तन्ते सर्वे धर्मा पृथक्पृथक् ।
सत्यं प्रेम तथा ज्ञानं यस्य नामान्तरं स्मृतम् ॥५९॥
द्रष्टृ विश्वस्य जगतो भोक्तृ यच्चापि केवलम् ।
तथापि साक्षिरूपेण निरपेक्षितया स्थितम् ॥६०॥
सच्चिदानन्दरूपं यत्कूटस्थमविचालि च ।
यत्राहं वस्तुतो वर्त्तेऽहन्तोपाधिविवर्जित ॥६१॥

यदेतद्विश्वसंव्यापि सामनस्यमृतं बृहत् ।
यशोरूपेण तद्यस्य च्छन्दोभिर्ऋषयो जगु. ॥६७॥

अथ किं बहुनोक्तेन यदतिक्रम्य संस्थितम् ।
दृश्यादृश्यमिदं विश्वं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥६८॥

सूर्यादि ग्रह जिसके आदेश का अनुवर्तन करते है,
यह चर और अचर की व्यवस्था जिसकी आज्ञा का पालन करती है,
विश्व में विस्तृत अनन्त कार्य और कारण के सम्बन्ध
जिसके गुण-गौरव का शब्दो के विना गान करते है,
विश्व के सचालन मे व्यस्त समस्त देव-गणो को नि सदेह
मूर्तिभाव को प्राप्त हुई जिसकी आज्ञा ही माना जाना चाहिए,
यह जो विश्व भर मे सव्याप्त सामनस्य और बृहत् ऋत (= प्राकृतिक नियमो की व्यवस्था) है,
उसी को ऋषियो ने जिसके यश के रूप मे छन्दो द्वारा गान किया था,
अथवा अधिक कहने से क्या ? जो दृश्य और अदृश्य
इस सारे विश्व का अतिक्रमण करके सस्थित है—
वही मेरी अक्षय निधि है ।

॥ इति जीवनज्योतिषि 'सोऽय मे निधिरव्ययो' नाम एकादशो रश्मि ॥

द्वादशो रश्मिः

तत्त्व-मीमांसा

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । (ऋग्वेद १।१६४।४६)

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

(ऋग्वेद १०।११४।५)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(यजुर्वेद ३२।१)

●

बारहवीं रश्मि

तत्त्व-मीमांसा

एक ही मूल-तत्त्व को विद्वान् अनेक नामो से कहते हैं ।

(ऋग्वेद १।१६४।४६)

एक ही सर्व-व्यापक तत्त्व को विद्वान् कवि वचनो द्वारा अनेक रूपो मे कल्पित करते है । (ऋग्वेद १०।११४।५)

उसी मूलतत्त्व को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र (प्रकाशयुक्त), ब्रह्म, अप् (जल) और प्रजापति कहा जाता है ।

(यजुर्वेद ३२।१)

तत्त्वमीमांसा

नर उवाच

सामनस्यस्य माहात्म्यं भवता प्रतिपादितम्।
नूनं तत्परमं सत्यं विश्वविष्टम्भने क्षमम् ॥१॥
सामनस्यप्रचाराय पृथिव्या मानवेषु वै।
यत्नशीला महात्मान इति कस्य तिरोहितम् ॥२॥
तथापि हन्त! परितस्तदभावेन पीडितम्।
जगदेतद्यतश्चित्तं सता चेखिद्यते महत् ॥३॥
परस्परं विरोधस्य भीषणस्य समन्तत.।
भावना प्रसृता घोरा नूनं दंहह्यते जगत् ॥४॥
तत्र यत्कारणं मुख्यं प्रताकारश्च यो भवेत्।
भूमौ शान्ते प्रसारार्थं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥५॥

नर ने कहा

आप ने ऊपर सामनस्य के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है। निश्चय ही वह परम सत्य है और विश्व के विष्टम्भन (= ऐक्य भाव की स्थापना) मे समर्थ है।

यह किससे छिपा है कि महात्मा-गण पृथिवी पर मनुष्यो मे सामनस्य के प्रचारार्थ यत्नशील रहते है।

तो भी यह दु ख की बात है कि चारो ओर उसके अभाव से जगत् पीडित है, जिससे सत्पुरुषो के चित्त को महान् खेद होता है।

[१]

मूलतत्त्व का विचार

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्वेद १।१६४।४६)

अर्थात्, एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अनेक नामो से कहते है।

प्राय प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के लोग इस दृश्य जगत् के मूल में रहने वाले परम तत्त्व को स्वीकार करते है। उसके लिए वे अपनी-अपनी परम्परा या दार्शनिक दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम देते है। इस नाम-भेद के

कारण ही वे प्राय यह सोच नही सकते कि नाम-भेद और दृष्टि-भेद से वह मूलतत्त्व वास्तव मे असपृक्त है, और इसीलिए उनसे स्वीकृत मूलतत्त्व, नाम-भेद और दृष्टि-भेद के होने पर भी, वास्तव मे एक ही है।

मूल-तत्त्व स्वय सिद्ध है। उसको किसी ने बनाया नही है। नाम-भेद और दृष्टि-भेद का यही अर्थ हो सकता है कि हम सब उसके स्वरूप को समझना चाहते है। ऐसी दशा मे नाम-भेद और दृष्टि-भेद को लेकर झगड़ने का कोई अर्थ ही नही रह जाता। पर धर्मों और सप्रदायो के इतिहास इस झगडे से भरे पडे है। इसीलिए मूलतत्त्व-मीमासा की विशेष आवश्यकता है। इसी मीमासा को लेकर नीचे के पद्य लिखे गये है—

यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषा लयो मत।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम् ॥१३॥

समस्त सत्पदार्थ जिस तत्त्व से उत्पन्न होते है, जिसमे उनका लय होता है और जिसके आश्रय मे वे वर्तमान रहते है, वह स्वय नित्य और अव्यय अर्थात् क्षय-रहित है।

भाषासीमामतिक्रम्य ज्ञानगम्यं कथंचन।
स्वयम्भु, वस्तुतो नाम्ना रहितं तद्धि वर्तते ॥१४॥

वह मूल-तत्त्व भाषा की सीमा को अतिक्रमण करके रहता है, अर्थात् भाषा द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन कठिन है। किसी प्रकार केवल ज्ञान की गति उस तक हो सकती है। वह स्वयभू है, अर्थात् उसको किसी दूसरे ने उत्पन्न नही किया है। वास्तव मे उसका कोई अपना नाम नही है।

तन्नामविषये मन्दास् तत्तद्रूढिवशान्मुधा।
विवदन्ते, तदाश्चर्यमुपहासकरं महत् ॥१५॥

उसी तत्त्व के नाम के विषय मे मन्द-बुद्धि लोग, विभिन्न रूढियो के कारण, व्यर्थ मे विवाद करते है। यह बडे आश्चर्य और उपहास की बात है।

नियतो विषयो वाचोऽनियतो मनसस्, तत।
ह्रसीयसी हि वागुक्ता मनसोऽपेक्षया श्रुतौ ॥१६॥

वाणी का विषय परिमित है और मन का अपरिमित। इसीलिए श्रुति[1] में मन की अपेक्षा वाणी को छोटा कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि हमारे मन के भावों को वाणी प्रायः पूर्णतया प्रकट नहीं कर पाती है। इससे स्पष्ट है कि वाणी के क्षेत्र की अपेक्षा मन का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है।

तत्त्वं स्वभावतः सिद्धं गुणग्रामनिकेतनम्।
गुणमेकं समाश्रित्य पुनर्नाम प्रवर्तते ॥१७॥

वह मूल-तत्त्व स्वभाव से ही अनेकानेक गुणों का स्थान है। परन्तु (अन्वर्थ) नाम किसी एक गुण को लेकर ही प्रवृत्त होता है।

अभिप्राय यह है कि जितने भी अन्वर्थ नाम होते हैं वे सब किसी-न-किसी एक ही गुण को लेकर रखे जाते हैं। मूल तत्त्व में तो अनेकानेक गुण रहते हैं। इसलिए कोई अन्वर्थ नाम मूल-तत्त्व का ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता। इसी बात को नीचे स्पष्ट किया गया है।

न विद्यते ततो नाम त्रिषु लोकेषु तादृशम्।
तत्त्वोपवर्णने शक्तं साकल्येन भवेत्तु यत् ॥१८॥
अन्वर्थवाचकं सर्वं नाम तत्त्वस्य विद्यते।
नैव रूढं, ततस्तेन विशेषगुण उच्यते ॥१९॥

इसलिए तीनों लोकों में कोई ऐसा नाम नहीं है जो पूर्णतया मूलतत्त्व के स्वरूप के वर्णन में समर्थ हो। क्योंकि उस मूल-तत्त्व के जो भी नाम संसार में प्रसिद्ध हैं वे सब अन्वर्थ-वाचक ही हैं, अर्थात् किसी अर्थ-विशेष को लेकर ही वे प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिए उन नामों से मूलतत्त्व के किसी-न-किसी विशेष गुण का ही अभिप्राय होता है। उनमें से कोई भी पूर्ण-रूप से मूलतत्त्व के सब गुणों को नहीं बतला सकता।

उसका कोई रूढ (= जिसमें अर्थ की अपेक्षा न हो) नाम तो है ही नहीं।

---

१ तु०—"वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक्।" (शतपथ-ब्राह्मण १।४।४।७)। अर्थात्, मन की अपेक्षा वाणी छोटी है, क्योंकि मन का क्षेत्र अपरिमिततर जैसा है और वाणी का परिमिततर जैसा।

रुचिभेदाद्धियो भेदादथवा संप्रदायत.।
तत्त्वस्य विषये दृष्टेर्भेद. समुपजायते ॥२०॥
दर्शनानि विभिन्नानि संप्रदायास्ततोऽपरे।
समुत्पन्नानि लोकेऽस्मिन् दृश्यन्ते यत्र तत्र वै ॥२१॥

मूलतत्त्व के विषय मे जो अनेक दृष्टियाँ पायी जाती है, उनका कारण रुचि-भेद, बुद्धि-भेद अथवा सप्रदाय-भेद ही है।

ससार मे जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले विभिन्न दर्शनो और सप्रदायो की उत्पत्ति इन्ही कारणो से हुई है।

परिधानीयवस्त्राणा भोज्यानां चैव निश्चितम्।
प्रकारेषु महान् भेदो देशभेदेन दृश्यते ॥२२॥
तत्तत्कारणसत्त्वेऽपि तत्र भेदे, न मौलिक ।
अभिप्रायो मनुष्याणा भेदमापद्यते क्वचित् ॥२३॥

विभिन्न देशो के पहनने के वस्त्रो और भोज्य पदार्थों के प्रकारो में महान् भेद पाया जाता है।

उक्त भेदो मे विभिन्न देशो के जल-वायु आदि का भेद ही कारण होता है। तो भी, पहनने के वस्त्रो और भोज्य पदार्थों के सबन्ध मे मनुष्यो के मौलिक अभिप्राय मे कोई भेद नही होता। अर्थात्, ससार मे सर्वत्र वस्त्र शीत आदि से बचाव के लिए ही पहने जाते है और भोजन शरीर-पुष्टि के लिए ही किया जाता है।

रुचकादिप्रकारेण भिन्नाकारानुपेयुष. ।
सुवर्णस्य सुवर्णत्वं हीयते न कदाचन ॥२४॥

सुवर्ण के गले आदि के आभूषणो मे सोना भिन्न-भिन्न आकारो को धारण कर लेता है। तो भी, उनमे सुवर्ण का सुवर्णत्व ज्यो का त्यों रहता है, उसमे कोई अन्तर नही पड़ता।

एवं सत्यपि दृष्टीना विभेदे दर्शनादिषु।
तत्त्व स्वरूपत स्थायि कूटस्थं चैव वर्त्तते ॥२५॥

इसी प्रकार विभिन्न दर्शनो आदि मे मूल-तत्त्व के विषय में विभिन्न दृष्टियो के पाये जाने पर भी, वह स्वरूप मे स्थायी और कूटस्थ ही रहता है।

अभिप्राय यही है कि मूलतत्त्व के विषय में अनेक दृष्टियाँ भले ही हो, वह अपने रूप मे सदा अविचल और स्थायी भाव से ही रहता है। उन दृष्टियो का उसके स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पड़ता।

एकस्यैव प्रमेयस्य परिभाषान्तरं यथा ।
क्रियते शास्त्रभेदेन तथा तत्त्वेऽपि दृश्यताम् ॥२६॥

सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म धम्मो प्रजापति ।
शक्तिर्माता शिवो विष्णू राम ओकार एव च ॥२७॥

प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशय ।
तदेव तत्त्वं गीतायामहं शब्देन कथ्यते ॥२८॥

एक ही पदार्थ के लिए विभिन्न शास्त्रो में विभिन्न पारिभाषिक शब्द नियत कर लिये जाते है। मूलतत्त्व के विषय में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए।

सत्य, ब्रह्म, परमधाम, कर्म, धम्म, प्रजापति, शक्ति, माता, शिव, विष्णु, राम, ओम्, प्रेम इत्यादि सारे शब्द मूलतत्त्व के ही वाचक हैं, इसमें कोई सशय नही है। उसी मूलतत्त्व के लिए भगवद्गीता में 'अहम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[२]

सर्वव्यापक तत्त्व

"स ओत प्रोतश्च" (यजुर्वेद ३२।८)

अर्थात्, वह मूल-तत्त्व सर्वत्र ओत-प्रोत हो रहा है।

वहिरन्तश्च सर्वत्र महिमा तस्य भासते।
चराचरस्य लोकस्य प्रवृत्तेरुद्भवो यत ।२६॥

चराचर जगत् की प्रवृत्ति का उद्भव जिस मूल तत्त्व से हुआ है, उसकी महिमा बाहर और भीतर सर्वत्र भासित हो रही है।

अदृश्यमपि यत्तत्त्वं लौकिकानामगोचरम्।
तदेव परित स्पष्टं विबुधाना प्रतीयते ॥३०॥

जिस परम-तत्त्व को साधारण लोग नही देख सकते, वह अदृश्य होते हुए भी ज्ञानियो को सर्वत्र स्पष्ट प्रतीत होता है।

[३]

परमात्म-तत्त्व

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा य करोति।" (कठोपनिषद् २।२।१२)

अर्थात्, सर्व भूतो का अन्तरात्मा परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपो मे प्रतीत होता है।

पात्रभेदेन भिन्नाम्भ' पिबन्नार्त्तं पिपासया।
यथा शान्तिमवाप्नोति नोक्तभेदेऽवसज्जते ॥३१॥

तथैव तत्त्वविद् विद्वान् नानारूपेण पूजिते।
परात्मतत्त्व एकस्मिन् शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥३२॥

जैसे पिपासा से आकुल मनुष्य विभिन्न पात्रो से पानी पीकर अपनी प्यास को बुझा लेता है और इस बात की परवा नही करता कि किस पात्र से उसको पानी मिला है, इसी तरह तत्त्वज्ञानी एक ही परमात्म-तत्त्व मे वास्तविक शान्ति को पाता है, भले ही ससार मे लोग भिन्न-भिन्न रूपो मे उसे पूजते है[1]।

---

१ तु० "बहुधाप्यागमैर्भिन्ना पन्थान सिद्धिहेतव।
तत्रैव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥" (रघुवश १०।२६)

[४]

मूलतत्त्व का साक्षात्कार

"नाशान्तो नामसमाहित" (कठोपनिषद् १।२।२३)

अर्थात्, अशान्त और असमाहित मनुष्य मूलतत्त्व का साक्षात्कार नही कर सकता ।

अन्तर्बहिश्च यत्तत्त्वं व्याप्तमानन्दरूपि तत् ।
पूर्णमेकरसं शान्तं यस्यान्तर्निवसाम्यहम् ॥३३॥

अन्दर और बाहर जो तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है वह आनन्दमय, अपने मे पूर्ण, एक रस और शान्त है । उसी के अन्दर मै रहता हूँ ।

तथापि कियदाश्चर्यं यन्मोहेन समावृतम् ।
वर्तते तन्मदीयेन मेघै रविरिवांशुमान् ॥३४॥

तो भी बड़ा आश्चर्य है कि मेरे अपने ही मोह से वह तत्त्व, मेघो से प्रकाशमान सूर्य के समान, आवृत हो रहा है ।

स्वस्थेन शान्तचित्तेन प्रसन्नेन निरन्तरम् ।
शक्यतेऽनुभवस्तस्य कर्तुमेकाग्रबुद्धिना ॥३५॥

स्वस्थ, शान्तचित्त, निरन्तर प्रसन्न रहने वाला तथा एकाग्र बुद्धिवाला मनुष्य ही उस तत्त्व का अनुभव अथवा साक्षात्कार कर सकता है ।

[५]

दुर्दर्श मूलतत्त्व

स्वयं प्रकाशमानं यत्तत्त्वं तस्य परात्मन ।
अनात्मनो विचाराणा गुहाया गूढमावृतम् ॥३६॥

परमात्मा का स्वय प्रकाशमान स्वरूप हमारे ऐसे विचारो की गुफा में जिनका आत्मा से सम्बन्ध नही है गूढ़ रूप में छिपा हुआ है ।

तेषां सम्यङ्निरोधे तद् योगाभ्यासविधानतः।
स्वात्मनोऽभ्यन्तरे सद्यो ज्योतीरूपं समीक्ष्यते ॥३७॥

योगाभ्यास की विधि से उन आत्म-स्वरूप-विरोधी विचारो के सम्यक्तया निरुद्ध हो जाने पर परमात्मा का वह प्रकाशमान स्वरूप तत्काल अपने अन्दर दिखाई देने लगता है।

तत्त्वं तत् 'तत् त्वम्' इत्येवं श्रुत्या नैकत्र गीयते।
अत एवात्मतत्त्वज्ञैरात्मन्येवानुभूयते ॥३८॥

उसी तत्त्व का 'तू वही है' इस प्रकार उपनिषदो मे अनेकत्र गान किया गया है। इसीलिए आत्म-तत्त्वज्ञानी उस तत्त्व का अपने अन्दर ही साक्षात्कार करते हैं।

ऊपर अपने अन्दर परमात्मा के दर्शन का कथन किया है। नीचे के पद्यो में अपने से बाहर बाह्य जगत् मे भी उसके दर्शन के उपाय का प्रतिपादन करते हैं –

अथ चेत्तस्य तत्त्वस्य दर्शनं स्वात्मनो बहि.।
अभीप्सितं, तदाविष्टं जगदेतत्परात्मना ॥३९॥
चराचरात्मकं सर्वं विष्णुनेति विभाव्यताम्।
तद्दर्शनेन तद्रूपं प्रत्यक्षमनुभूयताम् ॥४०॥

पर यदि कोई अपने से बाहर बाह्य जगत् मे ही परमात्मा के दर्शन करना चाहता है, तो उसको बराबर यही चिन्तन करना चाहिए कि इस चराचरात्मक समस्त विश्व में विष्णु[1] रूप से परमात्मा आविष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार परमात्मा के शरीर-रूप अथवा विभूति-रूप इस बाह्य जगत् मे भी परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

अभिप्राय यह है कि यथाविधि अभ्यास और संयम से अपने अन्दर तो परमात्म-तत्त्व का अनुभव किया ही जा सकता है, परन्तु बाह्य जगत् में भी उस तत्त्व का साक्षात्कार असंभव नही है।

---

१. 'विष्णु' का अर्थ है 'सब जगत् में प्रविष्ट (व्यापक) परमात्मा'।

अभिप्राय यह है कि विश्व को धारण करने वाली एक महाशक्ति है, यह तो तत्काल समझ मे आ जाता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि उसका सारा कार्य हेतु-पुरस्सर है और प्राणियो की हित-भावना से सचालित है। इसमें किसको सन्देह हो सकता है कि विश्व की सारी व्यवस्था हेतु-पुरस्सर है। उदाहरणार्थ, यदि पृथिवी पर प्राणी हैं, तो उनके लिए वनस्पति और जल आदि की भी सृष्टि है। बच्चे के उत्पन्न होते ही माता के स्तनो मे दूध आ जाता है। इसीलिए उस महाशक्ति को आद्या बुद्धि और चेतना के रूप मे मानना आवश्यक हो जाता है। उक्त उदाहरणो से ही यह भी मानना पडता है कि यह महाशक्ति हित-भाव से काम करने वाली अर्थात् प्रेम और कारुण्य से भी युक्त है। इसीलिए हम उसको 'सर्वजगन्माता' भी कह सकते हैं।

उपर्युक्त विषय का ही वर्णन दूसरे शब्दो मे नीचे के पद्य मे किया गया है—

यस्याः शक्ते प्रभावेण विश्वमेतद्व्यवस्थितम्।
वर्ततेऽभिन्नमर्यादं तामेवाहं समाश्रये ॥४३॥

जिस शक्ति के प्रभाव से यह सारा विश्व इस प्रकार व्यवस्थित है कि उसमें सब पदार्थो और नियमो की मर्यादा ठीक-ठीक नियत है, मै उसी का आश्रय लेता हूँ।

[७]

प्रभामयी देवी

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (कठोपनिषद् २।२।१५)

अर्थात्, उसी परमात्मा के प्रकाश से सब विश्व प्रकाशित है।

जगद्धात्री महाशक्ति का प्रभामयी देवी के रूप मे वर्णन नीचे के पद्य मे किया जाता है—

यासौ प्रभामयी देवी सर्वस्यान्तर्विराजते।
मोहान्धकारखिन्नस्त्वं तस्या शरणमाप्नुहि ॥४४॥

मोहरूपी अन्धकार से खिन्न होने पर तू उस प्रभामयी देवी की शरण में जा, जो प्रत्येक प्राणी के, विशेषत मनुष्य के, हृदय में विराजमान है।

व्याख्या

उपनिषदो और आरण्यक ग्रन्थो मे "य एव वेद स एव भवति" (अर्थात्, जो ऐसी भावना करता है वह ऐसा हो जाता है) प्राय ऐसे वचन आते हैं। भगवद्गीता में भी, 'मनुष्य पर अपनी भावनाओ का बड़ा प्रभाव पडता है' इस सिद्धान्त पर बल दिया गया है। आधुनिक मुहावरे में इसी सिद्धान्त को हम 'मनुष्य पर अपने आदर्शो का गहरा प्रभाव पडता है' इन शब्दो में भी कह सकते है। सारे मन्त्र-शास्त्र का रहस्य भी इसी सिद्धान्त मे है।

इसलिए इसमे तनिक भी सदेह नही हो सकता कि मोह-रूपी अन्धकार से खिन्न व्यक्ति यदि सर्वशक्तियो के निधान भगवान् का, उस मूलतत्त्व का, प्रभामयी देवी के रूप में ध्यान और चिन्तन करेगा, तो उसे प्रकाश अवश्य ही मिलेगा। यही प्रभामयी देवी कवियो को स्फूर्त्ति देने वाली भगवती सरस्वती या शारदा हैं।

उपर्युक्त भावना-मूलक सिद्धान्त के आधार पर ही, इस प्रकरण में, परमतत्त्व परमात्मा के कुछ अन्य रूपो का वर्णन किया गया है। उस-उस रूप मे ध्यान और चिन्तन को हम निश्चय ही 'सफल प्रयोग' कह सकते है।

[८]

स्नेहमयी माता की गोद में

जगद्धात्री महाशक्ति का स्नेहमयी माता के रूप मे वर्णन—

यैषा सर्वमयी देवी मातृरूपेण वर्तते।
तस्या क्रोडं समाश्रित्य वर्त्तेथास्त्वं गतव्यथ ॥४५॥

यह जो सर्वमयी देवी माता के रूप मे सर्वत्र विद्यमान है, तू अपनी सारी व्यथाओ को छोड कर उसी की गोद में आश्रय लेकर रह।

जैसे बच्चा माता की गोद मे जाते ही अपनी सारी व्यथाओ को भूल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य को अपनी व्यथाओ को भूल कर 'मातृ-रूप परमात्मा की गोद मे मैं बैठा हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए। निस्सन्देह इस भावना से मनुष्य के हृदय को एक अपूर्व सान्त्वना और शान्ति प्राप्त होगी।

ससार-सागर की यात्रा के लिए, अथवा आपत्ति-रूपी नदियो को पार करने के लिए, नौका के रूप मे देवी महाशक्ति का वर्णन—

[९]

देवी नौका

"दैवी नावम्· ··· आ रुहेमा स्वस्तये" (ऋग्वेद १०।६३।१०)

अर्थात्, हम कल्याण-प्राप्ति के लिए परमात्मा-रूपी नौका पर आरूढ हो।

संसारसागरे यात्रा कर्तुकामोऽभयेन य।
परात्मदेवतानौकामाश्रयेत् स प्रयत्नत ·।४६॥

जो मनुष्य निर्भय होकर ससाररूपी सागर की यात्रा करना चाहता है उसको प्रयत्न-पूर्वक परमात्मा-रूपी नौका का सहारा लेना चाहिए।

दैव्या नावोह्यमानोऽहं सुतरामापदापगा·।
असंशयं तरिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥४७॥

परमात्मा-रूपी नौका से ले जाया जाता हुआ मैं निस्सन्देह आपत्ति-रूपी नदियो को सरलता से पार कर जाऊँगा, इस विषय में सोचने की आवश्यकता नही है।

[१०]

महती देवता

हृन्मन्दिर में प्रतिष्ठित देवता के रूप में वर्णन—

महती देवता यैषा हृन्मन्दिर उपस्थिता।
ता ध्यायेच्छ्रद्धयोपेतो य इच्छेच्छ्रेय आत्मन.॥४८॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि वह अपने हृदय-रूपी मन्दिर मे यह जो महती देवता उपस्थित है उसका श्रद्धा के साथ ध्यान करे।

महती देवता येषा ह्यात्मनोऽभ्यन्तरे स्थिता ।
आत्मानमर्पयेत्तस्यै क्षेमार्थी यो भवेन्नर. ॥४६॥

जो मनुष्य कुशल चाहता है उसे चाहिए कि वह अपने को उस महती देवता के लिए अर्पण कर दे जो अपने भीतर स्थित है ।

[११]

परमतत्त्व की स्तुति

व्याप्य स्थितं त्रिभुवनं परितोऽप्रमेयं
पुण्यं परं परमनिर्वृतिधाम सत्यम् ।
पापापहं त्रिविधतापहरं वरेण्यं
शान्तं शिवं परमतत्त्वमहं नतोऽस्मि ॥५०॥

तीनो लोको मे पूर्णत व्याप्त, अप्रमेय,
अत्यन्त पवित्र, परम आनन्द के स्थान, सत्यस्वरूप,
पापो को और तीनो प्रकार के दु खो को दूर करने वाले, वरणीय,
शान्त, शिवस्वरूप परमतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ ।

यस्यास्ति वाड्मनसयोर्महिमा न गम्यो
लोकानतीत्य निखिलानपि संस्थितं यत् ।
भूत्वा यतो विलयमेति च यत्र विश्वं
तच्छाश्वतं किमपि तत्त्वमहं नतोऽस्मि ॥५१॥

जिसकी महिमा का पार वाणी और मन नही पा सकते,
जो समस्त लोको को भी अतिक्रान्त करके स्थित है,
जिससे उत्पन्न होकर विश्व उसमें ही विलीन होता है,
उस अनिर्वचनीय शाश्वत तत्त्व को मै नमस्कार करता हूँ ।

यच्छाश्वतं परमतत्त्वमतीन्द्रियं सल्-
लोकत्रयस्य परिचालनमातनोति ।
आनन्दधाम सततं जगता प्रतिष्ठा
भक्त्या नतोऽस्मि करुणावरुणालयं तत् ॥५२॥

जो शाश्वत परमतत्त्व अतीन्द्रिय होता हुआ,
तीनो लोको का परिचालन कर रहा है,
सतत आनन्द के स्थान और लोको के आधार,
उस करुणा-सागर को मै भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

[१२]

विश्व-संचालक परमात्म-तत्त्व

सृष्ट्वा जगन्ति निखिलानि पितामहो यो
विष्णुस्तथैव भुवनानि च पालयित्वा ।
मृत्युञ्जयस्तदुपसंहृतिकारणत्वाद्
योऽसौ स नोऽवतु सदा त्रिगुण. समन्तात् ॥५३॥

समस्त लोको की सृष्टि करने से जो ब्रह्मा है,
लोको का पालन करने से जो विष्णु है,
उनका संहार करने से जो शिव है,
वह त्रिगुण भगवान् सदा सर्वत हमारी रक्षा करे !

विश्वं यदस्ति सचराचरमेव विष्टं
कालत्रयेऽपि परिणामदशानभिज्ञम् ।
भास्वन्ति येन निखिलानि जगन्त्यमूनि
तन्न शिवं वितनुता परमं हि धाम ॥५४॥

जो समस्त चराचर जगत् मे व्याप्त हो रहा है,
जो तीनो कालो मे सदा एक ही रूप में रहता है,

जिससे ये सारे जगत् प्रकाशमान हैं,
वह परमधाम हमारे लिए कल्याण का विस्तार करे।

भानु: शशी समुदितो नियमेन, चान्ये
लोका यदीयमनुशासनमाचरन्ति।
ब्रह्माण्डभाण्डरचनाकुशलैकदेव
पायात्स नोऽनवरतं दुरितादवद्यात् ॥५५॥

जिनके अनुशासन मे सूर्य और चन्द्रमा नियम मे उदित होते हैं

और अन्य लोक भी जिनके अनुशासन का अनुसरण करते हैं,

ब्रह्माण्ड-रूपी भाण्ड (=पात्र) की रचना मे एकमात्र कुशल वे सर्व-लोककर्ता,

सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कुत्सित पाप से सदा हमारी रक्षा करें।

तत्त्वं यदेतदतिशुद्धमचिन्त्यरूपं
शान्तं शिवं सकलविश्वविकासकेन्द्रम्।
यन्नेति नेति श्रुतिसारवचोभिरेवं
व्याख्यायते किमपि तत्समुपाश्रयेऽहम् ॥५६॥

जो अत्यन्त शुद्ध, अचिन्त्य-रूप, शान्त, शिव-स्वरूप और सकल विश्व के विकास का केन्द्र है, जिसकी श्रुति के विशिष्ट वचन 'नेति नेति' (=यह भी नही, यह भी नही) कहकर व्याख्या करते हैं, उस अनिर्वचनीय परम-तत्त्व का मै आश्रय लेता हूँ।

॥ इति जीवनज्योतिषि तत्त्वमीमासा नाम द्वादशो रश्मि ॥

त्रयोदशो रश्मिः

अमृतस्य कला

यश्चायमस्मिन् मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा । इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१३)

●

तेरहवीं रश्मि

अमृत की कला

यह जो इस मनुष्य-भाव में तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष है वह यही है जो यह आत्मा है । यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब कुछ है ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१३)

अमृत की कला

नर उवाच

मूलतत्त्वस्य मीमासा व्याख्याता येयमद्भुता ।
श्रुत्वा तामन्धतमसादज्ञानान्मुच्यते नर. ॥ १ ॥

छायामाश्रित्य घर्मार्तैर्यथा शान्तिरवाप्यते ।
तृषार्तैर्वा यथात्यन्त शीतमम्भोऽभिनन्द्यते ॥ २ ॥

तथैवाज्ञानमूढाना मोहध्वान्तनिवर्तिनी ।
व्याख्येयं सर्वलोकानामभिनन्द्या भविष्यति ॥ ३ ॥

तथापि कापि जिज्ञासा हृदयोन्माथिनी भृशम् ।
आत्मस्वरूपमाश्रित्य भगवञ्जायते मम ॥ ४ ॥

कोऽहं किं च स्वरूपं मे किं लक्ष्य जीवनस्य वा ।
मूलतत्त्वेन संबन्ध. कीदृशो विद्यते मम ? ॥ ५ ॥

इत्येवं विविधे प्रश्ने संशयाकुलमानस ।
वर्तेऽहं तत्समाधानं कृपया कर्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

नर ने कहा

मूलतत्त्व की जो यह अद्भुत मीमासा आपने की है, उसको सुनकर घोर अन्धकार रूप अज्ञान से मनुष्य छूट जाता है ।

धूप से आर्त मनुष्य जैसे छाया का आश्रय लेकर शान्ति को प्राप्त कर लेते है, अथवा प्यास से आर्त मनुष्य जैसे ठडे जल का अभिनन्दन करते है—

वैसे ही जो अज्ञान से मूढ हैं उनके मोहरूपी अन्धकार को हटाने वाली यह व्याख्या सब लोगो के लिए अभिनन्दनीय होगी ।

तो भी, हे भगवन् ! आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे हृदय को अत्यन्त व्याकुल कर देने वाली कोई जिज्ञासा मुझे हो रही है ।

मै कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? अथवा जीवन का लक्ष्य क्या है ? मूलतत्त्व के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है ?

इस प्रकार विविध प्रश्नो को लेकर मेरा मन सशय से व्याकुल हो रहा है । आप कृपया उनका समाधान कीजिए ।

नारायण उवाच

श्रुत्वैता जिज्ञासा वत्सात्यन्त प्रसन्नोऽहम् ।
प्रयते तामपनेतुं जिज्ञासोर्भूमिका श्रित्वा ॥ ७ ॥
अध्यात्मपद्धतिरियं विज्ञानामभिमता लोके ।
तामाश्रित्य ततोऽहं वक्ष्ये त्वा तत्समाधानम् ॥ ८ ॥

श्री नारायण ने कहा

हे वत्स ! इस जिज्ञासा को सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । एक जिज्ञासु की भूमिका का आश्रय लेकर मै उस जिज्ञासा को दूर करने का प्रयत्न करता हूँ ।

(व्याकरण-सम्बन्धो) उत्तम पुरुष का आश्रय लेकर चलने वाली यह अध्यात्म-पद्धति[1] लोक में विज्ञ पुरुषो को अभिमत है । इसलिए उसी का आश्रय लेकर मैं तुमसे उपर्युक्त जिज्ञासा का समाधान करूँगा ।

---

१ 'आध्यात्मिकी वृत्ति' अथवा 'अध्यात्मपद्धति' पर प्रथम रश्मि के ४९ और ५० सख्या के पद्यो के हिन्दी अनुवाद पर पाद-टिप्पणी देखिए ।

[१]

अमृत की दिव्य कला[1]

अमृतस्य कला दिव्या सर्वस्यान्तर्विराजते ।
प्रत्यक्षापि बुधाना सा पामराणा न गोचरा ॥ ६ ॥

अमृत की दिव्य कला सबके अन्दर विराजती है । ज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते है, पर अज्ञानी उसको नही देख पाते ।

तयैव सुखकृत्सर्वं शान्तिदायि प्रतीयते ।
तयैव दु खमध्येऽपि सुखं पश्यति मानव. ॥१०॥

ससार में पदार्थो से मनुष्य को जो सुख और शान्ति प्राप्त होते है उसका कारण वही अमृत-कला है । उसी के कारण दु खो के बीच मे भी मनुष्य सुख को देख सकता है ।

इसका स्पष्टीकरण अगले तीन पद्यो मे किया गया है—

नानासंतापसंतप्ता कोटिं कष्टस्य वा गता ।
वियुक्ता धनधान्याद्यैर्बन्धुबान्धववर्जिता: ॥११॥
इन्द्रियैरेन्द्रियैर्वापि विकलाश्च, निराकृता ।
आशावन्तस्तथापीह दृश्यन्ते मानवास्तया ॥१२॥

नाना सतापो से सतप्त, घोर कष्टो को प्राप्त, धन-धान्य आदि से वियुक्त, बन्धु-बान्धवो से रहित, एक या अनेक चक्षु आदि इन्द्रियो से हीन अथवा विकृत, तथा अनादर को प्राप्त मनुष्य भी इस ससार मे उसी अमृत-कला के कारण आशा से युक्त दिखायी देते है ।

---

१ तु० "अमृतस्य पूर्णां तामु कला विचक्षते" (तैत्तिरीय आरण्यक ३।११।५)। दे० इसी रश्मि के मुखपृष्ठ पर वृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१३।

दु.खिनोऽप्याननेयेयं रेखा हासस्य दृश्यते।
कदाचित्, कारणं तस्या सैवामृतकला मता ॥१३॥

दु खो मे ग्रस्त मनुष्य के मुख पर भी जो हास की रेखा कभी-कभी दीख पड़ती है, उसका कारण भी वही अमृत-कला मानी गयी है।

राज्यादिसंपदं त्यक्त्वा प्रसन्ना कष्टसन्तती।
स्वीकुर्वन्ति महात्मानो हेतुस्तत्रापि सा कला ॥१४॥

महात्मा लोग राज्यादि की सपत्ति को छोड़ कर प्रसन्नता-पूर्वक कष्ट-सन्ततिओ को जो स्वीकार करते हैं, उसका हेतु भी वही अमृत-कला है।

यशसाक्रान्तलोकानां शूराणा शौर्यकर्मसु।
गम्भीरशान्तमूर्त्तौ वा लोकोत्तरमहात्मनाम् ॥१५॥
निर्दोषभावरम्येषु बालानामाननेषु वा।
मातुर्वात्सल्यभावे वा स्नेहार्द्रेऽपत्यवर्धने ॥१६॥
पत्न्या अकृत्रिमे पुण्ये प्रेम्णि भर्तृकृतेऽथवा।
विबुधा द्रष्टुमर्हन्ति साक्षात्तामममृता कलाम् ॥१७॥

मनीषी लोग, यश से लोको को आक्रान्त करने वाले शूर-वीरो के वीरता के कामो में, अथवा लोकोत्तर महात्माओ की गम्भीर और शान्त मूर्ति मे, अथवा निर्दोष-भाव से रमणीय बालको के मुखो पर, अथवा स्नेह से आर्द्र तथा सन्तान के वर्धन मे हेतुभूत माता के वात्सल्य-भाव में, अथवा अपने पति के प्रति पत्नी के स्वाभाविक पवित्र प्रेम मे, उस अमृत-कला को साक्षात् देख सकते हैं।

सा मेऽमृतकला शुभ्रा, साहं सा वस्तुतोऽनघा।
चराचरस्य लोकस्य प्रकाशं तनुते सदा ॥१८॥

वह मेरी अमृत-कला सब प्रकार की मलिनता से रहित और स्वच्छ है। वह मैं ही हूँ। वह वास्तव मे पाप से रहित है, और इस चराचर जगत् को सदा प्रकाशित करती है।

सुखदु खे तिरस्कृत्य सदानन्दमयस्थितौ।
संस्थिता, ज्योतिषा ज्योति., सर्वकामदुघा स्मृता ॥१९॥

सुख और दु ख को हटाकर सर्वदा आनन्दमय स्थिति में सस्थित और सूर्य आदि ज्योतियो की भी ज्योति-रूप वह अमृत कला मनुष्य की समस्त सत्कामनाओ को पूर्ण करनेवाली कही गयी है।

अमृतस्राविणी सा मे, सतत मार्गदर्शिनी।
भूयाद्, भयेन निर्मुक्ते पदे सस्थापयेच्च माम् ॥२०॥

सैषा स्थिति सदा मे स्याज्जाग्रत: स्वपतोऽपि वा।
समाधिसंस्थितस्याथ कार्यव्यग्रस्य वा सत. ॥२१॥

वह अमृत-कला मेरे ऊपर अमृत का स्रवण करने वाली और साथ ही सदा सन्मार्ग को दिखाने वाली हो, और मुझे भय से रहित स्थिति मे संस्थापित करे।

जागते हुए अथवा सोते हुए, समाधि में स्थित होने पर अथवा सासारिक कार्यो मे व्यस्त रहने पर भी मेरी सर्वदा यही मानसिक स्थिति रहे।

तदेवं निर्भय· शान्त आत्मन्येवात्मना स्थित:।
योगेनान्ते तनुं त्यक्त्वा ब्रह्मनिर्वाणमाप्नुयाम् ॥२२॥

एषाशीराशिषा श्रेष्ठा मम जीवनसङ्गिनी।
वर्ततेऽप्यनुवर्तेत सर्वदेति मदीप्सितम् ॥२३॥

सो इस प्रकार निर्भय, शान्त, तथा केवल आत्म-भाव में स्थित होकर, जीवन के अन्त में योग-द्वारा शरीर को छोड़कर, मैं ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करूँ।

जीवन की आकाक्षाओ में यह सर्वोत्कृष्ट आकाक्षा मेरे जीवन की अब तक सगिनी रही हैं, आगे भी यह सदा मेरे साथ रहे, यही मैं चाहता हू।

[२]

किसी का अपमान न करो

"यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।"

(श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१५)

अर्थात्, जब योगी प्रदीप के समान वर्तमान आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है तभी . ।

जीवन के सम्बन्ध में आध्यात्मिक समष्टि-दृष्टि से युक्त ब्रह्मविद् मनीषी की ओर से नीचे के पद्य कहे गये हैं—

सर्वेऽमी प्राणिनः साक्षान्मानवास्तु विशेषत. ।
प्रदीपा इव भासन्ते दीपिता ब्रह्मतेजसा ॥२४॥

इधर-उधर घूमने वाले ये समस्त प्राणी, मनुष्य तो विशेष कर, ब्रह्म के तेज से भासित प्रदीपो के समान प्रतीत होते है ।

भास्वरं तन्महत्तेजो ब्रह्मणो न. समन्तत ।
चैतन्यरूपतापन्नं प्राणिमात्रे प्रकाशते ॥२५।

ब्रह्म का प्रकाश-स्वरूप वह महान् तेज ही चैतन्य रूप मे हमारे चारो ओर प्रत्येक प्राणी मे प्रकाशित हो रहा हैं ।[1]

अत एव च सर्वेऽपि प्राणिनो गौरवास्पदम् ।
न कश्चिदवमन्तव्य आत्मश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणा ॥२६॥

इसीलिए सभी प्राणी हमारे गौरव के पात्र हैं। जो अपना कल्याण चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह किसी भी प्राणी का अपमान न करे, अर्थात् किसी को तुच्छ न समझे ।

---

१. तु० 'ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदु परमेष्ठिनम्" (अथर्व० १०।७।१७) । अर्थात्, ब्रह्म को वे ही जानते हैं जो मनुष्य मे ब्रह्म को देखते है ।

[३]

आत्मा की ब्राह्मी स्थिति

द्वैविध्यमात्मन प्राहुरात्मज्ञा ये मनीषिण: ।
एकोऽहंकारसंमूढ स्वरूपे संस्थितोऽपर· ॥२७॥

आत्मा के तत्त्व को जानने वाले मनीषियो का कहना है कि आत्मा की दो अवस्थायें होती हैं। एक अवस्था मे वह अहकार के कारण अपने को भूला हुआ रहता है, और दूसरी अवस्था मे वह स्वरूप में स्थित होता है।

पूर्व स्वभावतोऽल्पज्ञो मन्दशक्तिश्च दु खभाक् ।
द्वितीयोऽनन्तशक्तीना केन्द्रमानन्द एव च ॥२८॥

इनमें से पहली अवस्था मे रहने वाला स्वभाव से अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और दु खो में ग्रस्त होता है।

दूसरी अवस्था मे रहने वाला, अर्थात् स्वरूप में स्थित आत्मा, अनन्त-शक्तियो का केन्द्र और आनन्दरूप ही होता है।

ततोऽहंकारपाशांस्त्वं छित्त्वा स्वातन्त्र्यमाप्नुहि ।
स्वाराज्यमात्मन· स्वास्थ्यं यासौ ब्राह्मी स्थितिर्मता ॥२९॥

इसलिए तुझको चाहिए कि तू आत्मा को बांधने वाले अहकार के फाँसो को काट कर स्वतन्त्रता को प्राप्त करे। उसी स्वतन्त्रता को आत्मा का स्वराज्य तथा आत्मा का स्वास्थ्य या स्वरूप-स्थिति समझना चाहिए। इसी को ब्राह्मी स्थिति माना जाता है।

[४]

आनन्द का निर्मल स्रोत

यथा हि सलिलं सद्यो निम्नमेवानुधावति ।
वह्नेर्यथा स्वभावेन गतिरूर्ध्वं सदा भवेत् ॥३०॥

एवं स्वभावत. सर्वे जीवाः शाश्वतमव्ययम् ।
आनन्दस्य परं स्रोतो गन्तुकामा न संशय. ॥३१॥

तवैवान्तस्तु तत् स्रोतः सततं वर्ततेऽनघम् ।
भ्रातरेतद्विजानीहि तद्धि ते लक्ष्यमुत्तमम् ॥३२॥

जैसे जल सदा नीचे की ओर ही दौडता है,
जैसे अग्नि की गति स्वभाव से सदा ऊपर की ओर होती है,
इसी प्रकार सब जीव स्वभाव से शाश्वत तथा अव्यय,
आनन्द के मूल स्रोत की ओर जाना चाहते है; इसमें सदेह नही है ।
तुम्हारे अन्दर ही वह निर्मल स्रोत सदा वर्तमान है,
भाई ! यह समझ लो । वही तुम्हारा परम लक्ष्य है ।

[५]

उत्कृष्ट रहस्य

अन्तस्ते वर्तते स्रोतः शक्तेः केन्द्रं तथैव च ।
तथ्यमेतद्विजानीहि रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३३॥

शक्ति का स्रोत और केन्द्र तेरे ही अन्तर वर्तमान है ।
इसको सत्य समझो । यही उत्कृष्ट रहस्य है ।

[६]

आत्मा का स्वरूप

न्यूनताभावनामूलो दुःखस्यानुभवो यतः ।
तत आत्मा स्वभावेन पूर्णोऽस्तीति श्रुतेर्वचः ॥३४॥

सुखेप्साप्रेरितो मर्त्यो यत्र तत्रानुधावति ।
आनन्दरूप आत्मायमिति तस्माच्छ्रुतेर्वच ॥३५॥

जरामृत्युभयेनार्ता मानवा दुःखकातरा ।
आत्मामृतस्वभावोऽयमिति तस्माच्छ्रुतेर्वच. ॥३६॥
रागद्वेषमहाव्याधित्रस्ता प्रायेण मानवा ।
वस्तुत आत्मनोऽद्वैतमिति तस्माच्छ्रुतेर्वच ॥३७॥
अवसादेन लोकोऽयं पङ्के गौरिव सीदति ।
प्रसादस्रोत आत्मायमिति तस्माच्छ्रुतेर्वच. ॥३८॥

यत दु ख के अनुभव के मूल में न्यूनता की भावना है। इसीलिए श्रुति का यह कहना है कि आत्मा स्वभाव से पूर्ण है।[1]

सुख की इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य जहाँ तहाँ दौड़ता रहता है। इसीलिए श्रुति का यह कहना है कि यह आत्मा आनन्द-स्वरूप है।[2]

जरा और मृत्यु के भय से आर्त मनुष्य दु ख से कातर हैं। इसीलिए श्रुति का यह कथन है कि यह आत्मा अमृत-स्वभाव है।[3]

मनुष्य प्रायेण राग-द्वेष की महाव्याधि से त्रस्त हैं। इसीलिए श्रुति का यह वचन है कि वास्तव में आत्मा का स्वरूप अद्वैत है।[4]

लोक अवसाद से इसी तरह दु ख पाता है जैसे दलदल मे गौ। इसीलिए श्रुति का कथन है कि यह आत्मा प्रसाद (=प्रसन्नता) का स्रोत है।[5]

यतस्तत्तत्समस्याभिरुद्विग्नं सकलं जगत् ।
आत्मानमिह जानीथा जन्मनीति श्रुतेर्वच ॥३९॥

यत समस्त जगत् तत्तत् समस्याओ से उद्विग्न है, इसीलिए श्रुति का कथन है कि इसी जन्म मे आत्मा (अपने) को तुम जान लो।[6]

---

१ तु० "पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" (बृहदारण्यकोपनिषद् ५।१।१)
२ तु० "आनन्द आत्मा।" (तैत्तिरीयोपनिषद् २।५।१)
३ तु० "अङ्गुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा त विद्याच्छुक्रममृतम्।" (कठोपनिषद् २।३।१७)
४ तु० "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत । तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत.॥" (ईशावास्योपनिषद् ७)
५ तु० "आनन्दरूपममृत यद्विभाति।" (मुण्डकोपनिषद् २।२।७)
६ तु० "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ॥" (केनोपनिषद् २।५)

[७]

शान्ति का उपाय

"सर्वं शान्ति । शान्तिरेव शान्ति" (यजुर्वेद ३६।१७)

अर्थात्, हमारे लिए सब कुछ शान्ति-दायक हो । हमारे लिए सर्वत्र सर्वदा शान्ति ही शान्ति हो ।

मनुष्य को शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए । पर शान्ति का मार्ग अकर्मण्यता मे नही है, किन्तु अन्तरात्मा के अनुकूल कार्य करने मे है—इसका प्रतिपादन नीचे के दो पद्यो मे किया गया है—

आयुष पश्चिमे भाग आत्मनो भूतिमिच्छता ।
संत्यज्य व्यग्रता सर्वा मन.शान्त्यै प्रयत्यताम् ॥४०॥
मन प्रसादनार्थाय यत्कार्यमुपयुज्यते ।
अन्त साक्ष्येण संजुष्टं सुधिया तद्विधीयताम् ॥४१॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे जीवन के अन्तिम भाग में सारी व्यग्रता को छोडकर मन की शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

बुद्धिमान् मनुष्य को वही काम करना चाहिए जिसकी मन की प्रसन्नता के लिए उपयोगिता हो और जिसमें अन्तरात्मा के साक्ष्य की अनुकूलता हो ।

अभिप्राय यह है कि जो आत्मिक शान्ति चाहता है उसे वही काम करना चाहिए जिससे उसके मन मे कोई मैल या क्षोभ पैदा न हो, और साथ ही जो उसकी अन्तरात्मा के अनुकूल भी हो ।

[८]

जीवन की कृतार्थता

"तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:" (ऋग्वेद १।२२।२०)

अर्थात्, विद्वान् ही जीवन के चरम-लक्ष्य-रूप भगवान् के परम पद को सदा देखते है ।

जीवनस्य परार्ध्येऽर्धे संस्थितोऽहं विलोकये।
विरजं शाश्वतं दिव्यं तद्विष्णो परमं पदम् ॥४२॥

जीवन के उत्तरार्ध या उत्कृष्ट भाग मे खडा हुआ मैं सर्वत्र ओत-प्रोत भगवान् के उस परम पद को देख रहा हूँ जो परम उज्ज्वल, शाश्वत और दिव्य-स्वरूप है।

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई किसी ऊँचे स्थान पर खडा होकर पर्वत के उज्ज्वल शिखर को देख सकता है, इसी प्रकार जीवन के अनुभवो से समृद्ध विद्वान् जीवन के अन्तिम भाग मे सर्वत्र ओत-प्रोत भगवान् की महिमा को स्पष्ट अनुभव कर सकता है।

भुक्त्वा नानाविधान् भोगान् दृष्ट्वा दृश्यान्यनेकधा।
निरस्तविषयव्रात. परमार्थं विचिन्तये ॥४३॥

नाना प्रकार के सासारिक भोगो को भोग कर, अनेक प्रकार के दृश्यो को देखकर, अब मै बाह्य विषयो के आकर्षण को हटाकर परमार्थ अथवा जीवन के वास्तविक लक्ष्य का चिन्तन करता हूँ।

संव्याप्य संस्थितं विश्वमानन्दैकनिकेतनम्।
संपश्यन्ननिशं मन्ये जीवनस्य कृतार्थताम् ॥४४॥

समस्त विश्व मे जो ओत-प्रोत है और आनन्द के जो एकमात्र निकेतन है उन भगवान् को बराबर देखते हुए मैं अब अपने जीवन को कृतकृत्य मानता हूँ।

अतिक्रम्येन्द्रियाध्वानं स्वस्था विश्रान्तचेतस:।
उपास्महेऽनिशं भक्त्या सर्वस्यार्त्तिहरं हरिम् ॥४५॥

इन्द्रियो के मार्ग को समाप्त कर के, स्वस्थ और शान्त-चित्त होकर, अब हम भक्ति-पूर्वक सबके कष्टो को दूर करने वाले भगवान् की बराबर उपासना करते है।

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई किसी सवारी से देव-दर्शन के लिए जाय और जहाँ तक सवारी जा सकती है वहाँ पहुँच कर सवारी को छोड दे और मार्ग-श्रम को दूर कर स्वस्थ होकर देवता की उपासना मे लग जाय, इसी प्रकार इन्द्रियरूपी घोडो की सहायता से जीवन की सासारिक यात्रा का समाप्त करके मनुष्य को अन्त में जीवन के परम लक्ष्य रूप भगवान् के भजन और चिन्तन मे लग जाना चाहिए।

[९]

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है

दुर्लभं मानुषं जन्मामूल्य एकोऽपि तत्क्षण ।
तथापि काकिणीतुल्यं तद्व्ययं कुर्वते जना ॥४६॥

मनुष्य का जन्म दुर्लभ है । उसका एक क्षण भी अमूल्य है । तो भी, बड़ा आश्चर्य है, मनुष्य कौडियो के समान उसका व्यय करते हैं !

[१०]

जीवन की महान् परीक्षा

नीचे के पद्यो में जीवन की महान् परीक्षा का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है ।

प्राणप्रयाणकालो य परीक्षाया क्षणो महान् ।
तदर्थं यत्नमातिष्ठेद् यावज्जीवं सुधीर्नर ॥४७॥

प्राणो के प्रयाण का समय महान् परीक्षा का अवसर होता है । बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन भर उसके लिए यत्न करे ।

यावन्त्यपि हि कर्माणि बुद्ध्या कुर्वन्ति मानवा ।
पाठ्य-पुस्तकरूपाणि तान्येवमवधार्यताम् ॥४८॥

मनुष्य अपने जीवन मे बुद्धि-पूर्वक जितने भी काम करते है उनको ही उक्त परीक्षा की पाठ्य-पुस्तक समझना चाहिए ।

जीवनस्य परीक्षायामुत्तीर्णाना मनीषिणाम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतिर्जायते ध्रुवम् ॥४६॥

विचार-शील मनुष्य ही जीवन की परीक्षा मे उत्तीर्ण होते है, और इस उत्तीर्णता से निश्चय ही उनकी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति होती है ।

ततश्च जीवनेऽनास्था प्रमादोऽनवधानता ।
आत्मतत्त्वविदो नैव कदाचिदुपपद्यते ॥५०॥

इसीलिए जो आत्मा के स्वरूप को जानता है वह जीवन के विषय में अनास्था, प्रमाद या असावधानी कभी नही कर सकता ।

प्रत्येकं कर्मणश्चिन्ता विवेकेन तत स्मृता ।
स्वचारित्र्यसमीक्षाया उपयोगस्ततो महान् ॥५१॥

इसीलिए शास्त्रो मे कहा गया है कि मनुष्य को जीवन मे प्रत्येक कर्म विवेक-पूर्वक सोच-समझकर करना चाहिए। इसीलिए जीवन मे अपने चरित्र की समीक्षा अथवा आत्म-परीक्षण का बड़ा भारी उपयोग है ।

प्रकृतेर्नियमा नित्या साक्ष्यं चैवान्तरात्मन: ।
सतामाचरणं शास्त्रं तत्रैते गुरव स्मृता. ॥५२॥

जीवन की परीक्षा की तैयारी में निम्नलिखित चार गुरु कहे गये है—(१) प्रकृति के स्वाभाविक नित्य नियम, (२) अन्तरात्मा का साक्ष्य, (३) सत्पुरुषो का आचरण, और (४) शास्त्र अथवा सत्साहित्य ।

गृह्णन्नथाचरंस्तेषामुपदेशानतन्द्रित ।
योगी वै कथ्यते, यस्माद् "योग कर्मसु कौशलम्[1]" ॥५३॥

उपर्युक्त चार गुरुओ के उपदेशो को तत्परता के साथ जो ग्रहण करता है और तदनुकूल आचरण करता है उसी को वास्तव मे योगी कहा गया है, क्योकि कर्मों के करने में कुशलता को ही योग कहते हैं ।

योगेनैतादृशेनेह ये भवन्त्यात्मदर्शिन ।
धीरास्त एव कीर्त्यन्ते "योगेनान्ते तनुत्यज[2]" ॥५४॥

इस प्रकार के कर्म-योग द्वारा जो आत्मा के (या अपने) वास्तविक स्वरूप को जान लेते है, ऐसे ही बुद्धिमानो के वियष में कहा जाता है कि वे जीवन के अन्तिम समय खिन्न नही होते और प्रसन्नता-पूर्वक योग-द्वारा अपने शरीर को छोड देते है ।

---

१ तु० "योग कर्मसु कौशलम्" (भगवद्गीता २।५०) ।

२. तु० "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" (रघुवश १।८) । तथा, "प्रयाणकालेऽपि च मा ते विदुर्युक्तचेतस " । (भगवद्गीता ७।३०)

तदेतज्जीवनस्याहुर्विज्ञा मुख्यं प्रयोजनम् ।
तल्लाभे तस्य साफल्यमलाभे व्यर्थता श्रुता ॥५५॥

विज्ञ लोग कहते हैं कि जीवन की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना ही जीवन का मुख्य प्रयोजन है। उस प्रयोजन की सिद्धि मे ही जीवन की सफलता, और सिद्धि न होने में ही उसकी व्यर्थता वेदादि शास्त्रो मे कही गयी है।

तत स्वकर्मपरमा अन्तकाले परीक्षिता ।
प्रसन्नचेतसोऽमूढा. प्रयान्ति परमं पदम् ॥५६॥

इसलिए जो मनुष्य अपने कर्तव्य के पालन मे सावधानता के साथ तत्पर रहते है वे ही जीवन के अन्तिम समय परीक्षित होकर प्रसन्नचित्त परमपद को प्राप्त होते है।

[११]

जीवन का शाश्वत लक्ष्य

यदा सवऽपि संबन्धा जगतोऽस्य लयोन्मुखा ।
जायन्ते, जायते सन्ध्यासान्निध्यं जीवनस्य ते ॥५७॥

क्रमश शिथिलावस्था गात्राणामुपचीयते ।
स्वभावतो यदा प्राज्ञो वैराग्यमुपसेवते ॥५८॥

बाह्यमाकर्षणं सर्वं नीरसं प्रतिभासते ।
प्रख्यातिकामना यर्हि मिथ्यादृष्टि प्रतीयते ॥५९॥

वलादिव यदोन्मेषस्तत्त्वबुद्ध्या. प्रबुध्यते ।
भ्रातस्तदोन्मना मा भूस्तत्त्वचिन्तापरो भव ॥६०॥

नैराश्यं दूरतस्त्यक्त्वा निखिलानर्थकारणम् ।
सर्वेषामपि सत्त्वाना हितचिन्तापरो भव ॥६१॥

'लोकोऽयमेव, न परो' बुद्धिरेषाल्पमेधसाम् ।
ता त्यक्त्वा शाश्वतं लक्ष्यं जीवनस्येति भावय ॥६२॥

अन्ते सफलयात्राया सन्तोषं लभते नरः।
तथा जीवनयात्रायाः साफल्ये तोषमाप्नुहि ॥६३॥
यदेतच्छाश्वत तथ्यं यत सर्वं प्रवर्तते।
यत्रैव च लयं याति तत् त्वं नित्यं समाश्रय ॥६४॥

जब इस जगत् के सब सबन्ध लयोन्मुख हो जाते हैं, जब तेरे जीवन की सध्या का सान्निध्य (= सामीप्य) आ जाता है,

शरीरावयवो की शिथिल अवस्था क्रमश. बढती जाती है, जब प्राज्ञ व्यक्ति स्वभाव मे वैराग्य का सेवन करने लगता है,

जब बाह्य जगत् के सब आकर्षण नीरस प्रतीत होने लगते हैं, जब प्रसिद्धि की कामना मिथ्या-दृष्टि प्रतीत होती है,

जब तात्त्विक बुद्धि का उन्मेष मानो बल-पूर्वक होने लगता है, भाई ! उस समय उन्मनीभाव का आश्रय न लेते हुए तत्त्व-चिन्तन मे तत्पर हो जाओ !

निखिल अनर्थो के कारण नैराश्य को दूर से ही छोड़कर, समस्त प्राणियो के हित-चिन्तन मे लग जाओ ।

इस लोक के अतिरिक्त परलोक नही है—अल्पबुद्धि लोगो का ही यह विचार है । उसको छोडकर, जीवन का शाश्वत लक्ष्य है—ऐसी भावना करो ।

सफल यात्रा के अन्त में मनुष्य को सतोष होता है । इसी तरह जीवन-यात्रा की सफलता में सतोष को प्राप्त करो ।

वह जो शाश्वत तथ्य है, जिससे सब-कुछ प्रवृत्त होता है और जिसमे विलीन हो जाता है, उसी का तुम नित्य आश्रय लो ।

[१२]

परमात्मा की प्रेरणा

"अग्ने नय सुपथा" (यजुर्वेद ४०।१६)।

अर्थात्, प्रकाशमान देव ! हमको ठीक मार्ग से ले चलिए ।

इदं श्रेयो न वा श्रेय इत्यान्दोलनदोलित. ।
नियन्तुर्जगता पत्युरालम्बनमहं श्रये ॥६५॥

'यह मार्ग ठीक (= कल्याण-प्रद) है अथवा नही ?' इस प्रकार के सघर्ष-रूपी झूले से दोलायमान मै सर्व-नियन्ता विश्वपति परमात्मा के ही आलम्बन का सहारा लेता हूँ।

अद्य यावज्जगत्यस्मिन् स्वेच्छया जीवनं गतम् ।
भविष्येऽभिलषामीशो भूयान्मे मार्गदर्शक ॥६६॥

इस जगत् में आज तक मेरा जीवन स्वेच्छा से व्यतीत हुआ है। मैं चाहता हूँ कि भविष्य मे भगवान् ही मेरे मार्ग-दर्शक हो।

तस्या देव्या महाशक्तेर्हस्त आत ।नमादधे ।
ब्रह्माण्डस्तम्बपर्यन्तं यया संचाल्यते जगत् ॥६७॥

मैं अपने को उस महाशक्ति देवी के अर्पण करता हूँ जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड से तृण-समूह-पर्यन्त यह सारा जगत् सचालित हो रहा है।

॥ इति जीवनज्योतिषि 'अमृतस्य कला' नाम त्रयोदशो रश्मि ॥

चतुर्दशो रश्मिः

अध्यात्म-योगः

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(कठोपनिषद् १।२।१२)

●

चौदहवीं रश्मि

अध्यात्म-योग

कठिनता से दीख पड़ने वाले, गूढरूप से वर्तमान, बुद्धि की गुहामे स्थित, गहन स्थान मे संस्थित, उस पुरातन देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा जानकर धीर (बुद्धिमान्) मनुष्य हर्ष-शोक से रहित हो जाता है ।

(कठोपनिषद् १।२।१२)

अध्यात्म-योग

नर उवाच

अमृतस्य कला यासौ सर्वस्यान्तर्विराजते।
कूटस्थममृतं यच्च विश्वं व्याप्यावतिष्ठते॥ १॥

साक्षात्त्वमस्य तत्त्वस्य येनोपायेन जायते।
ज्योतिष्मती विशोका च स्थितिर्येनोपलभ्यते॥ २॥

भगवंस्त्वं हि तत्त्वज्ञः प्रश्रयावनतोऽस्म्यहम्।
सविस्तरमुपायं तं ततो मा वक्तुमर्हसि॥ ३॥

नर ने कहा

जो वह अमृत की कला सबके अन्दर विराजमान है, और जो कूटस्थ अमृत तत्त्व समस्त विश्व को व्याप्त करके अवस्थित है,

उस तत्त्व का साक्षात्कार जिस उपाय से होता है, जिसके द्वारा ज्योतिष्मती विशोका स्थिति[1] की उपलब्धि होती है,

भगवन्! आप उस तत्त्व के ज्ञाता हैं, मैं विनय से अवनत हूँ, इसलिए कृपया उस उपाय को विस्तार के साथ मुझे बतलाइए।

---

१. दे० "विशोका वा ज्योतिष्मती" (योगसूत्र १।३६)

नारायण उवाच

धन्योऽसि वत्स येनेयं जिज्ञासाद्य तवोदिता।
रहस्यं जीवनस्यास्य नूनं तामवलम्बते ॥ ४ ॥

अध्यात्मयोग इत्याहुस्तमुपायं मनीषिणः।
मुच्यते हर्षशोकाभ्या मानवोऽध्यात्मयोगत. ॥ ५ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं देवं मत्वा हर्षशोकौ जहाति।
अध्यात्मयोगाधिगमेन विद्वान् श्रौतं वच. स्पष्टमिदं ब्रवीति ॥ ६ ॥

तस्यैवाध्यात्मयोगस्य स्वरूपं सप्रयोजनम्।
सोपपत्ति विधानं च किञ्चिदत्र निगद्यते ॥ ७ ॥

श्री नारायण ने कहा

हे वत्स ! तुम धन्य हो जिससे आज यह जिज्ञासा तुम्हारे मन में उदित हुई है। इस जीवन का रहस्य निश्चय ही उस जिज्ञासा पर अवलम्बित है।

उस उपाय को मनीषी लोग अध्यात्म-योग कहते हैं। अध्यात्म-योग के द्वारा मनुष्य हर्ष और शोक से मुक्त हो जाता है।

'विद्वान् अध्यात्म-योग की प्राप्ति से उस देव को जानकर, जिसका दर्शन दुष्कर है और जो गूढ रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, हर्ष और शोक को पार कर जाता है'—श्रुति के वचन[1] ने स्पष्टतया यह बात कही है।

उसी अध्यात्म-योग का प्रयोजन के सहित स्वरूप और उपपत्ति के साथ विधान सक्षेप मे यहाँ कहा जाता है।

---

१. दे० इस रश्मि के मुखपृष्ठ पर उद्धृत कठोपनिषद् १।२।१२

[१]

आत्मा की गुहा

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु परमां गतिम् ॥"

(कठोपनिषद् २।३।१०)

अर्थात्, जब पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल हो जाती हैं, और बुद्धि भी चेष्टा नही करती है, उसे (समाधि की) परम अवस्था कहते हैं।

नीचे अध्यात्म-योग की प्राप्ति की ओर जो बढना चाहता है, उसके मन की अवस्था का वर्णन करते हैं—

बुद्धेर्नट्या विलासेभ्य उपराममुपेयुषः।
भावाना नटरूपाणा नाट्येन श्रान्तचेतस. ॥ ८ ॥

सुखदु खक्षयो यत्र सर्ववृत्तिलयस्तथा।
आनन्दैकरसे तत्र समाधावुत्कता मम ॥ ९ ॥

बुद्धि-रूपी नटी के विलासो से उपरत होकर, तथा नट-रूपी भावो के नाट्य से श्रान्त-चित्त होकर, सुख-दु ख दोनो का जिसमे अभाव है, मन की सारी वृत्तियो की जिसमें समाप्ति हो जाती है, और जिसमे केवल एक आनन्द-रस का प्रवाह रहता है, ऐसी समाधि के लिए मैं उत्सुक हो रहा हूँ।

इतस्ततो निरुद्देशं यथोन्मत्त· प्रधावति।
वृत्तिभिर्नीयमानस्य तथा चित्तस्य मे स्थिति. ॥१०॥

जैसे एक उन्मत्त मनुष्य विना किसी उद्देश्य के इधर-उधर दौडता है, वृत्तियो से इधर-उधर भटकने वाले मेरे मन की वैसी ही स्थिति हो रही है।

निरर्थकं व्ययं दृष्ट्वानन्तस्यापि निधेर्यथा।
श्रेष्ठिनोऽपि स्वकीयस्य चिन्ता समुपजायते ॥११॥
एवं वृत्तिप्रवाहैस्तु क्षीयमाणात्मसंपदः।
ममापि जायते चिन्ता चित्तस्वास्थ्यविनाशिनी ॥१२॥

जैसे एक महाधनी सेठ को भी अपनी अनन्त निधि के निरर्थक व्यय को देखकर चिन्ता हो जाती है, इसी प्रकार अपनी आत्मा की सपत्ति के नाश को देखते हुए मुझे भी चित्त की शान्ति को नष्ट करने वाली चिन्ता हो रही है।

आत्मानमात्मना पश्यन् गुहायामात्मन. स्थित·।
विश्रान्तिमुपगच्छेयमित्यौत्सुक्यमतीव मे ॥१३॥

इसलिए मुझे तीव्र उत्सुकता हो रही है कि मै आत्मा की गुफा मे स्थित होकर केवल अपने को अपने से देखता हुआ विश्रान्ति को प्राप्त करूँ।

[२]

समाधि का स्वरूप

नीचे आत्मा की विशुद्धस्वस्थता रूप समाधि के स्वरूप का सामान्य रूप से वर्णन करते हैं—

निद्रायाश्च समाधेश्च विद्यते महदन्तरम्।
निद्राया तमउद्रेकाच्चैतन्यमभिभूयते ॥१४॥
समाधावथ चैतन्यं स्वरूपावस्थितं मतम्।
वृत्तीनामुपरोधेन स्वास्थ्यं तन्महदात्मन ॥१५॥

निद्रा और समाधि मे बड़ा अन्तर है। निद्रावस्था मे तमोगुण की अत्यधिकता से चैतन्य बहुत कुछ दब जाता है।

समाधि की अवस्था मे चित्त-वृत्तियो के उपरोध के कारण चैतन्य अपने स्वरूप मे स्थित रहता है। इसी को आत्मा की विशुद्ध स्वस्थता समझना चाहिए।[1]

---

१. तु० "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध। तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्र" (योगसूत्र १।२-४)।

[३]

आत्मस्वरूप का साक्षात्कार

अध्यात्म-योग के मार्ग के पथिक को क्रमश अपने स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है, इसकी व्याख्या नीचे के पद्यो मे की गयी है—

वृत्तयो निस्सरन्त्योऽमू स्फुलिङ्गा इव वह्नित: ।
आत्मनोऽनारतं शक्ति विक्षिपन्ति समन्तत ॥१६॥
तासा जाते निरोधे तु क्रमशोऽध्यात्मचेतस. ।
आत्मन स्वं महत्तेज स्थिररूपेण भासते ॥१७॥

अग्नि से निकलती हुई चिनगारियो के समान, आत्मा से निकलती हुई वृत्तियाँ उसकी शक्ति को सब ओर बखेरती रहती है ।

जिस मनुष्य का चित्त आत्मा की ओर झुक चुका है, उसकी वृत्तियो के क्रमश निरुद्ध हो जाने पर आत्मा का अपना महान् तेजस्वी स्वरूप स्थिर रूप से भासित होने लगता है ।

[४]

प्रतिदिन शान्ति का अनुभव

योगाभ्यास से मनुष्य प्रतिदिन शान्ति का अनुभव कर सकता है, यह नीचे के पद्यो में बतलाया गया है—

देशदेशान्तरं गत्वा दृष्ट्वा दृश्यान्यनेकधा ।
निजनीडं समायाति विश्रान्त्यै विहगो यथा ॥१८॥
लोकयात्राप्रवृत्तोऽपि कामं कार्यवशात्तथा ।
आत्मनोऽन्त प्रविष्टस्त्वं प्रत्यहं शान्तिमाप्नुहि ॥१९॥

जैसे पक्षी प्रात काल के अनन्तर देश-देशान्तरो मे जाकर और अनेक प्रकार के दृश्यो को देखकर विश्राम के लिए सायंकाल अपने घोसले में आ जाता है, इसी प्रकार अयि मानव ! भले ही तुझे विशेष कार्य से सासारिक जीवन में प्रवृत्त होना पडे, तो भी तू प्रतिदिन अपने अन्दर प्रविष्ट होकर, अर्थात् एकाग्र-चित्त होकर, आध्यात्मिक साधना द्वारा शान्ति का अनुभव कर सकता है ।

[५]

वास्तविक लाभ और हानि

नित्यं प्रात· समुत्थाय· नरश्चरितमात्मन· ।
जीवनप्रगतिं चैव शान्तचित्तो विभावयेत् ॥२०॥
लाभाकाङ्क्षी जन सर्वो वर्तते नात्र संशय. ।
दृश्यते हानिहानाय यत्नशीलस्तथैव स: ॥२१॥
एवं को वस्तुतो लाभो हानिर्वा विद्यते मम ।
इत्येतत्प्रथमं सर्वैश् चिन्तनीयं प्रयत्नत. ॥२२॥
लाभहान्यो स्वरूपं ये जानते ते मनीषिण. ।
मन्दा ये तदविज्ञाय वर्तन्ते कष्टसन्ततौ ॥२३।

मनुष्य को चाहिए कि वह नित्य प्रात उठकर शान्तचित्त होकर अपने चरित तथा अपने जीवन की प्रगति पर विचार करे।

इसमें सदेह नही कि ससार मे सब कोई लाभ का इच्छुक है, और उसे कोई हानि न हो जाय इसके लिए यत्नशील दिखाई देता है।

इस प्रकार वास्तव में मेरा क्या लाभ और क्या हानि है ?—सबको प्रयत्न-पूर्वक इसी बात की चिन्ता करनी चाहिए।

मनीषी वे ही हैं जो (अपने वास्तविक) लाभ और हानि के स्वरूप को जानते है। जो मन्द अथवा जड-बुद्धि है वे अपने हानि-लाभ को न जानकर कष्टो की परम्परा में पडे रहते हैं।

[६]

अन्धकार के उस पार

"तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)
अर्थात्, भगवन्! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए!

अध्यात्म-मार्ग में प्रवृत्त मनुष्य की ईश्वर के प्रति स्वाभाविक प्रार्थना का वर्णन नीचे के पद्यो में किया गया है—

प्रार्थये तमहं देवं लोकाना प्रेरणाप्रदम् ।
दुरितं दूरतो गच्छेच्छश्वच्छान्तिरुपैतु माम् ॥२४॥
तेजस्तिमिरयोर्द्वन्द्वमनिशं जीवने स्थितम् ।
तत एव समुद्विग्नो मानव. खिन्नमानस. ॥२५॥
एतदेव महद् दुःखं प्रश्न एष महांस्तथा ।
कथमस्य परं पारं यायामिति कदर्थित. ॥२६॥
प्रार्थये परमात्मानं श्रद्धाविश्वासतत्पर. ।
तमसोऽस्य परं पारं ज्योतिर्गमय मामिति ॥२७॥

लोक-लोकान्तरा के प्रेरक उस परम देव से मै प्रार्थना करता हूँ कि मुझसे पाप दूर चला जावे और शान्ति सदा मुझे प्राप्त हो !

प्रकाश और अन्धकार का द्वन्द्व जीवन मे निरन्तर वर्तमान रहता है। उसी से उद्विग्न होकर मनुष्य खिन्न-मनस्क रहता है।

यही बड़ा भारी दु ख है, यही बडा प्रश्न है।

उक्त स्थिति के परले पार मैं कैसे पहुँच सकता हूँ ? इस प्रकार दु ख से आतुर हुआ मै श्रद्धा और विश्वास में तत्पर होकर परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि इस अज्ञान-अन्धकार के परले पार जो प्रकाश है उसे आप मुझे प्राप्त कराइए।

[७]

ध्यानावस्था का वर्णन

प्रकाशात्सहसा कश्चिदन्धकारं गतो यथा ।
विस्पष्टं नैव गृह्णाति पदार्थांस्तत्र संशयः ॥२८॥

क्षणं दृष्टेर्निरोधश्चेत्प्रथमं क्रियते तदा।
पदार्था अन्धकारेऽपि यान्ति विस्पष्टता स्वत ॥२९॥

एवमेव वहिर्वृत्तौ चित्तमुन्मुखता गतम्।
कर्तुमध्यात्मसंलग्नं सहसा नैव शक्यते ॥३०॥

तस्माद् ध्यानोन्मुखो नित्यं तावन्निर्विषयं मन।
कृत्वा सर्वप्रयत्नेन ततो ध्यानरतो भवेत् ॥३१॥

तस्या स्थितौ स्थितस्यैव यतमानस्य योगिनः।
अध्यात्मं भान्ति ते भावा स्पष्टं दिव्यरसाश्रयाः ॥३२॥

जैसे कोई व्यक्ति प्रकाश से सहसा अँधेरे में जाने पर, नि सन्देह पदार्थों को स्पष्टतया नही देख पाता है—

पर क्षण भर के लिए दृष्टि का यदि प्रथम निरोध कर लिया जाता है तो अन्धकार में भी पदार्थ विस्पष्ट हो जाते हैं।

इसी प्रकार वाह्य वृत्ति मे उन्मुखता को प्राप्त चित्त सहसा अध्यात्म मे सलग्न नही किया जा सकता है।

इसलिए जो व्यक्ति ध्यान करना चाहता है उस पूरे प्रयत्न से पहले अपने मन को निर्विषय करके तब ध्यान मे रत होना चाहिए।

उस स्थिति मे स्थित हो जाने पर ही योग-मार्ग मे यत्नशील योगी का दिव्य रसो से युक्त पदार्थों का अध्यात्म दृष्टि से स्पष्ट भान होता है।

अध्यात्म-योग के मार्ग मे जो विघ्न-वाधाएँ अथवा चित्त की अशान्ति उपस्थित होती है उनकी निवृत्ति के उपायो[1] का वर्णन नीचे किया गया है—

---

१ देखिए—"तत प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।",
"तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास।", "विशोका वा ज्योतिष्मती।",
"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद।", "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।"
(योगसूत्र १।२९, ३२, ३६, ४७, ४८)

[८]

आत्मा का शुभ्र रूप

मोहान्धकारसंक्षुब्धा चित्तवृत्तिर्यदा भवेत् ।
रूपं तदात्मन शुभ्रं तन्निवृत्त्यै समाश्रयेत् ॥३३॥

जब चित्त की वृत्ति मोह के अन्धकार से सक्षुब्ध हो, उस समय मनुष्य को उसकी निवृत्ति के लिए आत्मा के शुभ्र अथवा विशुद्ध निर्मल स्वरूप का आश्रय लेना चाहिए ।

[९]

कामकामी को शान्ति कहाँ ?

स्वल्पेऽपि कारणे हर्षमुद्वेगं मोहमेव वा ।
भजमानो विमूढात्मा कामकामी न शान्तिभाक् ॥३४॥

विषयो की कामनाओ से ग्रस्त मनुष्य, जो अपने वास्तविक स्वरूप को नही जानता, थोडे-से कारण से भी हर्ष, उद्वेग अथवा मोह को प्राप्त हो जाता है और इसी कारण उसको शान्ति नही प्राप्त होती ।

तरङ्गैरुह्यमानस्य विवशस्य कथा यथा ।
तथा भावतरङ्गौघैर्विक्षिप्ताना कथा नृणाम् ॥३५॥

किसी वडी नदी को जोरदार तरङ्गो में विवश होकर वहने वाले मनुष्य को जैसी दयनीय दशा होती है, वैसी ही दशा उन लोगो की होती है जो अपने स्वरूप मे स्थित न रह सकने के कारण भावरूपी तरङ्गो के प्रवाहो से इधर उधर फेंके जाते हैं ।

ये पुनर्वशिनो धीरा स्वरूपे समवस्थिता ।
साक्षिरूपेण भावाना त ईक्षन्ते गमागमौ ॥३६॥

परन्तु जो धीर मनुष्य स्वरूप मे स्थित रहते हुए अपनी वृत्तियो को अपने वश मे रखते है, वे भावो के आने और जाने को (अर्थात् उनके आविर्भाव और तिरोभाव को) एक साक्षी के समान ही तटस्थ भाव से देखते है, अर्थात् उनके कारण हर्ष, उद्वेग और मोह से प्रभावित नही होते ।

तरङ्गिणीस्तरीतुं य. कला जानाति तत्त्वतः।
क्रीडन्निवाभय शान्तो नद्या' पारमुपैति सः ॥३७॥

जो मनुष्य नदियो के तैरने की कला से वस्तुत परिचित है वह किसी भी नदी को निर्भय तथा विना घवड़ाहट के, मानो खेलता हुआ, पार कर जाता है।

[१०]

ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार

ब्रह्म-ज्ञान का एक-मात्र साधन निर्मल, सात्त्विक और प्रसन्न चित्त ही है। इसी का प्रतिपादन नीचे के दो पद्यो में किया गया है—

विरजं वितमस्कं च प्रसन्नं यद्धि मानसम्।
तदेव वस्तुतो द्वारं ब्रह्मकोशस्य दृष्टये ॥३८॥

रजोगुण और तमोगुण के विकारो से रहित और प्रसाद-गुण से युक्त जो मन है, वही वास्तव मे ब्रह्म-रूपी कोश को देखने का द्वार है। यही नही, अपि तु—

विशुद्धसच्चिदानन्दरूपं यद् ब्रह्मणो मतम्।
प्रसन्नं निर्मलं चित्तं प्रमाणं तत्र केवलम् ॥३९॥

यह जो माना जाता है कि विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द ही ब्रह्म का रूप है, इसको सिद्ध करने के लिए प्रसन्न और निर्मल चित्त ही एकमात्र प्रमाण है। अर्थात् ऐसे चित्त के विना ब्रह्म के स्वरूप को कोई समझ ही नही सकता।[1]

---

१. तु० "नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियै।
मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभि ॥"

[११]

मानस यज्ञ

मानस-यज्ञ का बड़ा हृदयग्राही वर्णन नीचे के पद्यो मे दिया जाता है—

श्रद्धावेदिमुपाश्रित्य प्रत्यहं नियतात्मना ।
ओंकारधुक्षरणेनैव प्रज्ञानाग्नि. समिध्यताम् ॥४०॥

श्रद्धा रूपी वेदि का आश्रय लेकर प्रतिदिन सयतात्मा मनुष्य को ओंकार के धुक्षण (=धौकना) से प्रज्ञान की अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए ।

समिद्धेऽग्नौ ततो मन्त्रैः शब्दातीतैर्मनोमयै. ।
पापौघो भस्मता नेयो योगयुक्तेन चेतसा ॥४१॥

प्रज्ञान-रूपी अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर योगयुक्त चित्त से, शब्दरहित केवल मनोमय (अर्थात् विचार-रूपी) मन्त्रो द्वारा, (समिधाओ आदि के स्थानीय) पापो के समूह को भस्म करना चाहिए ।

तस्याग्नेर्दर्पणेनैव रूपं तद् यत्परात्मन ।
दर्शं दर्शं सदानन्दस्रोतसि स्नानमाचरेत् ॥४२॥

साथ ही उस प्रज्ञान-रूपी अग्नि को दर्पण बनाकर उसमे अन्तरात्मा (या परमात्मा) के रूप का बार-बार देखकर सदा बहने वाला जो आनन्द का स्रोत है उसमे स्नान करे (अर्थात् मग्न हो जावे) ।

वस्तुतोऽवभृथस्नानमेतदाहुर्मनीषिण ।
स एष मानसो यज्ञ-श्रेष्ठोऽनन्तफल स्मृत ॥४३॥

मनीषी इसी स्नान को वास्तविक अवभृथस्नान (=यज्ञान्त-स्नान) कहते हैं । सो यह मानस-यज्ञ सब यज्ञो में श्रेष्ठ और अनन्त फल को देनेवाला कहा गया है ।

व्याख्या

इस प्रकरण मे प्रसिद्ध याज्ञिक प्रक्रिया के आश्रय से मानस-यज्ञ (अथवा भावना-यज्ञ) के स्वरूप और महत्त्व को समझाने का यत्न किया गया है ।

मानस यज्ञ में श्रद्धा की वेदि पर ओंकार के धुक्षण से प्रज्ञान की अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है ।

प्रज्ञानाग्नि मे भावनामय मन्त्रो से एकाग्र-चित्त साधक अपने पापो की आहुति देकर उनको भस्मसात् करता है ।

साथ ही, प्रज्ञानाग्नि से वह दर्पण का काम भी इस अर्थ मे लेता है कि उसमे अन्तरात्मा के स्वरूप को बरावर देखता है और इससे जो आनन्द-स्रोत बहता है उसमे मग्न होकर मानो स्नान भी करता है।

इससे याज्ञिक-अग्नि की अपेक्षा प्रज्ञानाग्नि की विशेषता स्पष्ट है।

यज्ञान्त मे स्नान की विधि है। मानस-यज्ञ में भी आनन्द-स्रोत में स्नान ऊपर बतलाया है।

दूसरे यज्ञो का फल सान्त होता है। परन्तु मानस-यज्ञ का फल अनन्त होता है, जिसको अमृतत्व कहते हैं। इसी लिए मानस-यज्ञ सब यज्ञो मे श्रेष्ठ कहा गया है।

ऊपर ओकार का उल्लेख आया है। अत नीचे ओकार की महिमा का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

[१२]

ओंकार की महिमा

शास्त्रो मे ओकार के अद्भुत माहात्म्य का वर्णन किया गया है, उस माहात्म्य को अतिशयोक्ति न समझना चाहिए। उसका आधार, निश्चय ही, ऋषि-मुनियो का अपना अनुभव था। उस माहात्म्य को पढकर यही मानना पडेगा कि एक सच्चे श्रद्धालु के लिए ओकार ऐसा चिन्तामणि है जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है—"एतद् ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" (कठोपनिषद् १।२।१६), अर्थात्, ओकार को जानकर कोई भी जिस पदार्थ को वह चाहता है उसको पा सकता है।

छान्दोग्य-उपनिषद्, माण्डूक्य-उपनिषद्, कठ-उपनिषद्, श्वेताश्वतर-उपनिषद्, भगवद्गीता, मनुस्मृति आदि मे अनेकानेक स्थलो में ओकार का वर्णन है। उससे स्पष्ट है कि ओकार ब्रह्म-प्राप्ति का एक अद्वितीय साधन है।

पातञ्जल योगसूत्रो में कहा गया है कि परमेश्वर का मुख्य वाचक शब्द ओंकार ही है और ओकार के जप और अर्थ के चिन्तन से अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाला सरलता से एकाग्रता तथा अन्तर्-मुखता को प्राप्त कर सकता है और उसके मार्गमे आने वाले सब प्रकार के विघ्न स्वय नष्ट हो जाते हैं (दे० "तस्य वाचक प्रणव । तज्जपस्तदर्थभावनम् । तत. प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया-भावश्च ।" योगसूत्र १।२७-२९) ।

इसी ओकार का एक आकर्षक, साथ ही वास्तविक वर्णन, माहात्म्य के रूप में, हम नीचे देते हैं । निश्चय ही जिज्ञासु लोगो को वह अत्यन्त प्रिय लगेगा । साथ ही हम आशा करते है कि पाठक इसको, कविता के रूप मे नही, किन्तु आध्यात्मिक भावना के रूप मे ही पढेंगे और प्रत्येक विचार-धारा को अपने मन मे सजीव देखने का यत्न करेंगे ।

१. (ओंकार का दोला के संगीत रूप में वर्णन)

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियामिकम् ।
यत्, तेन निर्मितामेता तेनैवान्दोलिता तथा ॥४४॥

श्वासप्रश्वासयोर्दोलामारूढो मोदनिर्भरम् ।
गायाम्योकारसंगीतं मधुरं मधुराक्षरम् ॥४५॥

प्रेम और कारुण्य के स्थान तथा सारे विश्व के नियन्ता भगवान् ने श्वास और प्रश्वास की दो डोरियो वाली एक दोला (झूला) मेरे लिये बनायी है और स्वय ही उस दोला को आन्दोलित कर रहे है । उन्ही के द्वारा मै उस दोला मे बैठा हुआ आनन्द-विभोर होकर मीठे स्वर मे मधुराक्षर ओकार-रूपी सगीत को गा रहा हूँ । ठीक उसी तरह, जैसे कोई बालक अपने पिता द्वारा झूले में बिठाया और झुलाया जाकर आनन्द में मग्न होकर गीत गाता है ।

२ (माता को बुलाने के लिए बच्चे के आह्वान के रूप में वर्णन)

यासौ सर्वजगन्माता सर्वदेवनमस्कृता ।
ऋषिभिर्मुनिभिर्गीता सर्वशास्त्रोपवर्णिता ॥४६॥

नानासंतापसंत्रस्तस् तस्या आह्वानमुत्तमम् ।
ओंकारमाश्रये नित्यं भक्तिप्रवणमानस ॥४७॥

समस्त देवताओ से नमस्कृत, ऋषियो और मुनियो से गायी-गयी, तथा सब शास्त्रो से वर्णन की हुई जो सारे जगत् की माता है, ओंकार उसके आह्वान का, अपनी ओर आकृष्ट करने का, उत्कृष्ट साधन है। अनेकानेक सन्तापो से त्रस्त होकर मैं भक्ति-प्रवण होता हुआ सर्वदा उसी ओंकार का आश्रय लेता हूँ।

अभिप्राय यह है कि डरे हुए बच्चे की तरह मै भी नाना सन्तापो से डरा हुआ ओंकार द्वारा ही विश्व की माता को बुलाना चाहता हूँ। उनके बुलाने के लिए यही सर्वोत्तम आह्वान है।

३. (भगवत्पद की प्राप्ति के लिए सोपान के रूप मे वर्णन)

योगिनामपि दुर्गम्यं भक्तानामपि दुर्लभम् ।
ज्ञानिनामपि दुश्चिन्त्यं जगत. प्रभवाप्ययम् ॥४८॥
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं विष्णोर्यत् परमं पदम् ।
ओमित्युद्गीथिन प्राहुस्तस्य सोपानमद्भुतम् ॥४९॥

ओम् का गान करने वाले आचार्यों का कहना है कि ओंकार ही उस कूटस्थ, शाश्वत और दिव्य भगवत्पद की प्राप्ति के लिए एक अद्भुत सीढी है, जो योगियो के लिए भी दुर्गम्य है, भक्तो के लिए भी दुर्लभ है, ज्ञानियो के लिए भी दुश्चिन्त्य है, जहां से जगत् की उत्पत्ति होती है और जिसमें उसका प्रलय होता है।

४ (आत्मरक्षार्थ कवच के रूप में वर्णन)

आन्तराणामरातीना विजयव्रतधारिणाम् ।
भवबन्धविनाशार्थं मुनीना धर्मचारिणाम् ॥५०॥

ओंकारं परमं प्राहुराश्रयं तद्विदो बुधा.।
तमेनं सुदृढं मन्ये "ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" ॥५१॥

काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि आभ्यन्तर शत्रुओ को विजय करने का व्रत लेने वाले, और भव-बन्ध अर्थात् सासारिक जीवन की त्रुटियो और अपूर्णता'ओ की निवृत्ति के लिए धर्माचरण मे रत मुनियो का ओंकार ही एकमात्र उत्कृष्ट सहारा होता है, ओंकार के तत्त्व को जानने वालो का ऐसा मत है। उसी ओंकार को मै अपना ब्रह्म-रूप मे सुदृढ आध्यात्मिक कवच समझता हूँ।

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" यह अथर्ववेद (१।१९।४) का मन्त्र है। उसी की ओंकार-परक व्याख्या यहाँ की गयी है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर-भक्त के लिए ओंकार ही एक सुदृढ कवच का काम करता है।

५-९. (सुगन्धित पुष्प, परम ज्योति·, अमृत, परमौषध तथा ब्रह्मास्त्र के रूप मे वर्णन)

ज्ञानविज्ञानवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम्।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरात्मनो भोज्यममृतम् ॥५२॥

नानासन्तापतप्ताना यच्चाप्यौषधमुत्तमम्।
पापौघं भस्मसात् कर्तुं ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मवादिनाम् ॥५३॥

ओंकार ज्ञानविज्ञान - रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात्, जैसे किसी फूलने वाले पौदे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय साराश पुष्प-रूप में विकसित होता है, इसी तरह समस्त ज्ञान और विज्ञान का अन्तिम निचोड या परम ध्येय या पर्यवसान ओंकार है।

ओंकार समस्त प्रकाशमय पदार्थों का भी प्रकाश है।

ओंकार ही वास्तव मे आत्मा का अमृतमय भोज्य है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यमात्र मे अपने को पूर्णता की ओर ले जाने की जो भूख है उसकी सदा के लिए तृप्ति ओम् से ही हो सकती है।

नानाविध सन्तापो से सतप्त प्राणियो के लिए ओंकार ही सर्वोत्तम अचूक औषध है।

मनुष्य के अन्दर जो पापों की राशि पर किये हुए है उसको आमूल भस्मसात् करने के लिए ओंकार को ही ब्रह्मज्ञानी लोग अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र समझते है।

१०. (सर्व-देवात्मक सर्वत्र व्यापक मूल-तत्त्व के रूप में वर्णन)

सर्वदेवात्मकं शान्तं तत्त्वमेकरसायनम्।
अथवा बहुनोक्तेन कोऽर्थ, एवं विनिश्चयताम् ॥५४॥
त्रिलोक्यामपि यत्किञ्चित् तदादाय समन्तत।
तिष्ठन्तं प्रणवं ध्यायन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५५॥

समस्त देव जिसके अंग है ऐसा, सदा एक स्वरूप मे रहने वाला (अथवा अद्वितीय रसायन-भूत), शान्त तत्त्व ओंकार ही है।

अथवा अधिक कहने से क्या लाभ है, यही समझना चाहिए कि तीनो लोको में जो कुछ भी विद्यमान है उस सब को अपने मे लेकर जो स्थित है, उसी ओंकार का ध्यान करता हुआ मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त कर सकता है।

(उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य के माहात्म्य का वर्णन)

एतदोंकारमाहात्म्यं प्रात. प्रात पठन्नर.।
सावधानेन मनसा शान्त एकान्तसंस्थित ॥५६॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रव्रजन् ब्रह्मणोऽध्वनि।
प्रणवस्य जपेनार्थभावनेन च नित्यश. ।५७॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं स्थानं प्राप्य, परं पदम्।
अक्षय्यममृतं दिव्यं लब्ध्वा तिष्ठत्यनामयम् ॥५८॥

उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य का एकान्त में बैठकर प्रत्येक दिन प्रात काल शान्तचित्त और सावधान होकर जो मनुष्य पाठ करता है, वह गुरु द्वारा बतलाये हुए मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति की ओर चलता हुआ नित्य अर्थविचार के साथ ओंकार के जप से क्रमश आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ निश्चय ही अन्त मे अक्षय्य, अमृत, अनामय (सब पीडाओ से रहित) आनन्दमय परमपद को प्राप्त कर सकता है।

(उपसंहार)

स एष सरलो मार्गः सर्वकण्टकवर्जितः ।
अत एव सदा सद्भिः सम्प्रदायैः समर्हितः ॥५९॥

ओंकार-उपासना का उपरि-निर्दिष्ट मार्ग सीधा-सादा है। इसमें किसी प्रकार के कण्टकों या विघ्न-बाधाओं या जटिलताओं का डर नहीं है। इसी लिए समस्त सत् सम्प्रदाय इस मार्ग का आदर करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक मार्ग की तरह जैन बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी ओंकार के माहात्म्य को मानते हैं।

[१३]

योगसाधन का महत्त्व

जन्मजन्मान्तरीयस्य कर्मव्रातस्य संक्षये ।
लोकलोकान्तरीयस्य वस्तुनस्तत्त्वनिर्णये ॥६०॥

या सत्या या परा शान्तिस्तस्याः संपादने महत् ।
कारणं योग आम्नातः सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥६१॥

जन्म-जन्मान्तर के संचित सकाम कर्मकलाप के नाश करने में,
लोक-लोकान्तर के पदार्थों के स्वरूप के निर्णय करने में, तथा
जो सत्य तथा उत्कृष्ट शान्ति है उसकी प्राप्ति में,
योग-साधन को विशिष्ट कारण कहा गया है—
वह मेरी अक्षय निधि है।

॥ इति जीवनज्योतिषि अध्यात्मयोगो नाम चतुर्दशो रश्मिः ॥

पञ्चदशो रश्मिः

व्यष्टिसमष्टि-सामञ्जस्यम्

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥

(यजुर्वेद ४०।६)

पन्द्रहवीं रश्मि

व्यष्टि और समष्टि का सामञ्जस्य

जो समस्त भूतों को, प्राणियो को, अपने मे ही देखता है और सब भूतो मे अपने को देखता है, उसके मन मे इस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के कारण किसी प्रकार की उलझन नही रहती । (यजुर्वेद ४०।६)

व्यष्टि-समष्टि-सामञ्जस्य

नर उवाच

व्याख्यामध्यात्मयोगस्य श्रुत्वेमामस्तकल्मषम् ।
नूनं मन्येऽहमात्मानं लब्धसर्वमनोरथम् ॥१॥
उपायेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथै. ।
विदुषामेष आघोषो मार्गस्थो नावसीदति ॥२॥
नूनमध्यात्मतत्त्वानामधिगत्यै मनीषिण. ।
अध्यात्मयोगसंपत्ते कारणत्वं प्रचक्षते ॥३॥
परमत्र प्रश्न एको गहन समुदेति तत्समाधानम् ।
भगवानर्हति कर्तुं तस्मादस्म्यागत शरणम् ॥४॥
व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च दृष्टी द्वे जगतो मते ।
तारतम्यं तयो. कीदृक् ? तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥५॥

नर ने कहा

अध्यात्म-योग की उक्त व्याख्या को सुनकर मै अपने को निश्चय ही निष्पाप और सब मनोरथो को पा लेने वाला मानता हूँ ।

कार्य उपाय द्वारा ही सिद्ध होते हैं । विद्वानो का यह आघोष है कि ठीक मार्ग पर स्थित (= चलने वाला) व्यक्ति अवसाद को नही प्राप्त होता ।

अध्यात्म-तत्त्वो की प्राप्ति अथवा ज्ञान के लिए मनीषी निश्चित रूप से अध्यात्म-योग की संपत्ति की कारणता बतलाते है ।

पर इस विषय मे एक गहन प्रश्न उपस्थित होता है । उसका समाधान भगवन् ! आप ही कर सकते है । इसीलिए मैं आपकी शरण मे आया हूँ ।

जगत् के सबन्ध में व्यष्टि और समष्टि की दो दृष्टियाँ मानी गयी है । कृपया आप यह बतलाइए कि उन दोनो दृष्टियो में परस्पर कैसा तारतम्य है ।

नारायण उवाच

प्रश्न एष महान् वत्स! नूनमध्यात्मवर्त्मनि।
वच्म्यहं तत्समाधानं समाहितमना. शृणु ॥६॥
"एक प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्" ॥७॥
व्यष्टेरेतादृशी दृष्टिः पारम्पर्यक्रमागता।
बन्धमोक्षप्रवादोऽपि तामाश्रित्यैव तिष्ठति ॥८॥
समष्टिदृष्टिमपर आतिष्ठन्ते मनीषिण।
कल्याणार्थाय संनद्धास्तप्ताना प्राणिना हि ये ॥९॥
"कामये दु खतप्ताना प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।"
एतादृशी मतिस्तेषा स्वार्थमुत्सृज्य वर्तते ॥१०॥
परस्परं विरुद्धे ते इति साधारणी मति।
तदत्र विषये तथ्यं सुप्रसन्नो वदाम्यहम् ॥११॥

श्री नारायण ने कहा

वत्स! अध्यात्म-मार्ग मे सचमुच यह महान् प्रश्न है। मैं उसका समाधान कहता हूँ, तुम सावधान मन से सुनो।

"प्राणी इकेला ही जन्म लेता है और इकेला ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इकेला ही सुकृत (= पुण्य) और दुष्कृत (= पाप) के फल का उपभोग करता है।"

व्यष्टि को लेकर ऐसी ही दृष्टि परम्परा से प्राप्त हुई है। बन्ध और मोक्ष का सिद्धान्त भी उसी दृष्टि को लेकर स्थित है।

परन्तु दु खो से तप्त प्राणियो के कल्याण के लिए जो मनीषी सनद्ध हैं, वे समष्टि-दृष्टि का सिद्धान्त मानते हैं।

"मैं दु ख से सतप्त प्राणियो की व्यथा को नाश करने की कामना करता हूँ"[1] किसी स्वार्थ के बिना उनकी ऐसी ही मान्यता होती है।

साधारणतया यही समझा जाता है कि उक्त दोनो दृष्टियाँ परस्पर मे विरुद्ध है। सो इस विषय मे जो तथ्य है उसे मैं प्रसन्नता-पूर्वक कहता हूँ।

---

१. तु० श्रीमद्भागवत ९।२१।१२ तथा ८।७।४४।

[१]

व्यष्टि और समष्टि

व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च दृष्टी द्वे जगतो मते।
प्रथमा तत्र मन्दानां द्वितीया तत्त्वदर्शिनाम् ॥१२॥

व्यष्टि की दृष्टि और समष्टि की दृष्टि, इस प्रकार जगत् के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ मानी गयी हैं। इनमें से पहली मन्द-बुद्धियों की है, और दूसरी तत्त्वदर्शियों की।

दुःखानां मूलमाख्यातो व्यष्टिभावो महर्षिभिः।
समष्टावेकतानत्वे तदभावोऽवतिष्ठते ॥१३॥

महर्षियों ने कहा है कि व्यष्टि-भाव दुःखों का मूल है और दुःखों का अभाव समष्टि के साथ एकतानता अथवा तादात्म्य में रहता है।

अल्पं यन्मर्त्यमित्युक्तं सुखं तत्र न विद्यते।
"यो वै भूमा तदमृतं" तत्सुखं मन्यते श्रुतौ ॥१४॥
व्यष्टिरल्पं समष्टिस्तु भूमशब्दार्थवाचिनी।
समष्टावाश्रिता व्यष्टिः समष्ट्यास्ते नियन्त्रिता ॥१५॥

जो अल्प है, परिमित है, वह मर्त्य है, मरणशील है। उसमें सुख नहीं रहता। जो वास्तव में भूमा (विशाल या अपरिमित) है, वह अमृत (शाश्वत) है। श्रुति में उसी को वास्तव में सुख-स्वरूप माना गया है।[1]

व्यष्टि अल्प है और समष्टि को ही भूमा इस शब्द से कहा जाता है।
व्यष्टि समष्टि पर आश्रित होती है और उससे नियन्त्रित रहती है।

---

१. तु० "यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य।" "यो वै
भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।"
(छान्दोग्योपनिषद् ७।२३-२४)
"पुरुष एवेदं विश्वम्" (मुण्डकोपनिषद् २।१।१०)

व्याख्या

समस्त उपलभ्यमान पदार्थों को व्यष्टि और समष्टि के दो रूपो मे हम देख सकते हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियो को व्यष्टि समझना चाहिए। एक ही तरह की व्यष्टियो के समस्त (देशभेद तथा कालभेद से) समुदाय में एकत्व की भावना को ही समष्टि-दृष्टि कह सकते है। एक एक ग्राम, ग्राम की व्यष्टि है। भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त ग्राम, एकत्व की भावना के साथ मे, ग्राम की समष्टि है। व्यष्टियाँ नाश को प्राप्त होती रहती हैं। समष्टि सदा रहती है- और कालान्तर में व्यष्टियो को जन्म देती है। साधारण बुद्धि के मनुष्य के लिए व्यष्टि का ही महत्त्व होता है, वह समष्टि को समझता ही नही। पर तत्त्वदर्शी की तृप्ति विनशन-शील व्यष्टियो से नही होती। वह अनेको मे एकत्व की ओर अनित्यो मे नित्य की खोज करना चाहता है। समष्टि ही ऐसी वस्तु है। व्यष्टियाँ विनशन-शील और अस्थिर होने के कारण स्वभावत दु ख का मूल होती हैं। उस दु ख का अभाव समष्टि-भावना मे ही हो सकता है। व्यष्टि-रूप हम सब जीवात्माओ की समष्टि परमात्मा के रूप मे ही समझी जा सकती है, व्यष्टि के अस्तित्व का मूल उसकी समष्टि मे होता है। इसी लिए उसके जीवन का सार्थक्य समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य मे ही है। यही मनुष्य के जीवन के सार्थक्य का रहस्य है। व्यष्टि को समष्टि के लिए अपनी बलि देनी पडती है। इसी की व्याख्या नीचे के पद्यो मे की गयी है—

[२]

समष्टि और ब्रह्म

प्रकृत्यैव जनाः सर्वे गाने वाद्ये च सस्पृहा ।
ग्राम्यो वापि बुधो वापि बालो वा वृद्ध एव वा ॥१६॥
प्रवर्तंते स्वभावेन गाने वाद्येऽप्यशिक्षित. ।
मौलिके कारणे तत्र मीमासाया हि नो मतम् ॥१७॥

स्वभाव से ही सब मनुष्य गाने-बजाने को पसन्द करते है। गँवार हो, बुद्धिमान् हो, बालक हो, या वृद्ध हो, बिना सिखाया हुआ भी, स्वभाव से गाना और बजाना चाहता है। इसका मौलिक कारण क्या है ? यह एक विचारणीय विषय है। इस विषय में हमारा जो मत है वह यह है—

व्यष्टेर्यद्वर्तनं तत्र वैषम्येण पदं कृतम् ।
समष्टौ सामरस्यं तु नूनं तस्या. स्वभावजम् ॥१८॥
व्यष्टौ व्याकुलता तस्माद्वैषम्यादेव जायते ।
आनन्दैकरसो रूपं समष्टेर्मन्यते पुन ॥१९॥

व्यष्टि स्वभाव से ही परिवर्तन-शील या विनशन-शील होती है, इसलिए उसमे विषमता अवश्य रहती है । समष्टि अपने रूप में स्थिर रहती है, इसी लिए उसमे समरसता अथवा एकरूपता स्वाभाविक होती है ।

व्यष्टि-रूप मर्त्यों मे जो व्याकुलता, आकुलता या व्यग्रता पायी जाती है उसका कारण उपर्युक्त विषमता ही है ।

एकरसता या सामरस्य से रहने वाली समष्टि मे तो एकमात्र आनन्द-रस का ही प्रवाह बहता है ।

व्यष्टिरूपा वयं मर्त्या समष्टिर्ब्रह्मणं पदम् ।
ब्रह्मणा तेन सायुज्यं सदास्माकमभीप्सितम् ॥२०॥

हम-सब मर्त्य व्यष्टिरूप हैं । सब व्यष्टियो की समष्टि ब्रह्म का पद है । इसी लिए हम सब ब्रह्म के साथ सायुज्य को सदा चाहते है । हम सब नित्य शाश्वत आनन्द को चाहते हैं, यही तो दूसरे शब्दो मे ब्रह्म-सायुज्य कहा जाता है ।[1]

गाने वाद्ये प्रवृत्तस्य व्यष्टेर्भानं विलीयते ।
समष्टौ, तेन दृश्यन्ते मानवास्तत्र सस्पृहा. ॥२१॥

ऊपर के व्यष्टि और समष्टि के विमर्श की दृष्टि से हम कह सकते है कि गाने-बजाने मे जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसको उस समय के लिए अपनेपन का

---

१ तु० "स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वभावोऽप्रकटस्वभाव. ।" (विष्णु-पुराण ६।५।८६), तथा "ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठम्" (मुण्डकोपनिषद् २।२।११), तथा "यदिद सकल विश्व नानारूप प्रतीतमज्ञानात् । तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥" (विवेकचूडामणि २२९), तथा "यस्मिन्सर्वं यत सर्वं य सर्वं सर्वतश्च य । यश्च सर्वमयो नित्य तस्मै सर्वात्मने नम ॥" (भीष्मस्तवराज १०१) ।

भान नही रहता, दूसरे शब्दो मे व्यष्टि की व्यष्टित्व-भावना उस समय के लिए समष्टि की सामरस्य की धारा मे विलीन हो जाती है। यही कारण है कि सब मनुष्य गाने-बजाने को पसन्द करते है।[1]

[३]

ब्रह्म-निर्वाण

कोऽहं कुत समायात. कुत्र गन्तास्मि चान्तत.।
परम्परागता एते प्रश्ना अद्याप्यवस्थिता.॥ २॥

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? और अन्त में कहा जाऊँगा ? ये प्रश्न प्राचीन काल से चले आ रहे है और आज भी अवस्थित है, अर्थात् इनका समाधान नही हुआ है।

तैर्थिकाना विवादस्य बाहुल्यं तत्र विद्यते।
बुद्धे. प्ररोचना सा स्यात् तद्विलासोऽपि वा भवेत् ॥२३॥
परं नैकान्तिकं ज्ञानमस्पृष्टं संशयेन यत्।
न चापि मानसी तुष्टिस्तत उत्पद्यते नृणाम् ॥२४॥

उक्त प्रश्नो के सम्बन्ध में विभिन्न सप्रदायो के प्रवर्तको के विवादो का बाहुल्य प्राचीन ग्रथो मे पाया जाता है। उसको हम बुद्धि का प्रदर्शन या विलास ही कह सकते है।

क्योकि, वास्तव में उस विवाद मे न तो मनुष्यो को ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान ही होता है जिसमें संशय की गध भी न हो, और न उनके मन को सतोष ही होता है।

---

१. तु० "तस्माद् हैतद्य सर्वं कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमते।" (शतपथब्राह्मण ६।१।१।१५), तथा "गीतिज्ञान शिवप्राप्ते सुतरा कारण भवेत्। गीतिज्ञानेन योग स्याद् योगादेव शिवैक्यता।" (सूतसहिता ४।२।३।११४)।

एवं भवतु मा वा भूदन्त साक्ष्येण मे मतम् ।
मदीया व्यष्टिरेषा या समष्टया सा नियन्त्रिता ।२५॥
तयानुप्राणिता नित्यं विद्यते नात्र संशय· ।
कल्याणं च तया तस्या. सामञ्जस्येन वर्तते ॥२६॥

उक्त विषय मे ऐसी बात हो या न हो, मै तो अपने अन्त साक्ष्य के आधार पर यही मानता हूँ कि मेरी जो यह व्यष्टि है वह निस्सदेह समष्टि से नियन्त्रित है तथा सदा उसी से अनुप्राणित रहती है, और यह कि मेरी व्यष्टि का कल्याण समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य मे ही है।

तद्वै ब्रह्मपदं प्रा.कमद्वैत शाश्वतं परम् ।
तदेतत्तत्त्वतो ज्ञात्वा ब्रह्मनिर्वाणमश्नुते ॥२७॥

इसी सामञ्जस्य को उत्कृष्ट ब्रह्म-पद कहा गया है। वह द्वैत की भावना से रहित है और शाश्वत है।

इस रहस्य को तात्त्विक दृष्टि स जानने वाला ब्रह्म-निर्वाण अथवा ब्रह्म-सायुज्य को पा लेता है।

[४]

व्यष्टि और समष्टि का सामञ्जस्य

भूतानामुद्दिधीर्षैव सृष्टेरस्या असंशयम् ।
कारणं करुणामूला स्वयंभूपरमात्मन. ॥२८॥

सहानुभूतिरेतस्मात् प्रेम तद्वदकृत्रिमम् ।
प्राणिन प्रति सर्वेषा परमो धर्म इष्यते ॥२९॥

अभिप्रायस्य संसिद्धिरेवं तस्य परात्मन· ।
स्वात्मनश्च स्वभावो य सोऽपि साफल्यमश्नुते ॥३०॥

'वर्तध्वं मानवा यूयं सामनस्येन सर्वथा' ।
इममेवार्थमुत्कृष्टं श्रुतिर्ब्रूते पुन पुनः ॥३१॥

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥"३२॥
श्रुतिरेषा निगूढार्था यद् ब्रूते सूक्ष्मया गिरा ।
तद्धि लोकहितार्थाय किंचिद्व्याख्यानमर्हति ॥३३॥
परात्मनो विभूतिस्ते देवा संज्ञानतत्पराः ।
विश्वस्य निखिलं कार्यं सामनस्येन कुर्वते ॥३४॥
व्यष्टीनामन्ततो नूनं समष्टेरुद्भवो मतः ।
समष्टेर्जायते व्यष्टिस्तस्यामेव प्रलीयते ॥३५॥
व्यष्टीना जीवनं तस्माद्व्यापार स्थितिरेव च ।
यथा सरसि मीनाना समष्टावाश्रितं तथा ॥३६॥
समष्ट्या तेन व्यष्टीना किञ्च तासां परस्परम् ।
सामञ्जस्यं समुत्कृष्टं परमं लक्ष्यमुच्यते ॥३७॥
समष्ट्याः कार्यकरणे व्यष्टीनामेकतानता ।
धर्मस्य वस्तुतो मूलमाहुस्तस्मान्मनीषिणः ॥३८॥
तस्यामेव स्थितो तिष्ठन्नद्वैतं स्वपरार्थयो ।
तत्त्वतो मन्यते विद्वानजिह्मेनैव चेतसा ॥३९॥

इसमें सन्देह नही कि स्वयम्भू परमात्मा की करुणा-मूलक प्राणियो के उद्धार की इच्छा ही इस सृष्टि का कारण है।

इसी लिए प्राणियो के प्रति सबकी सहानुभूति तथा अकृत्रिम प्रेम परमधर्म माना जाता है।

इस प्रकार उस परमात्मा के (उद्दिधीर्षा-रूप) अभिप्राय की सिद्धि होती है और अपनी आत्मा का जो स्वभाव है वह भी सफल हो जाता है।

"अयि मनुष्यो। तुम परस्पर सर्वथा सामनस्य अथवा प्रेम और सद्भाव से वर्ताव करो"—इसी उत्कृष्ट अर्थ को श्रुति[1] बार-बार कहती है।

---

१ तु० "सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि व ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥" (अथर्ववेद ३।३०।१)

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते ।" (ऋग्वेद १०।१९१।२) ।

(अर्थात्, हे मनुष्यो ! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियो से सपन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते है, ऐसे ही तुम भी समष्टिभावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों मे प्रवृत्त होओ, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भावना से बरतो ।)

गूढ अर्थ वाली यह श्रुति सूक्ष्म (= सक्षिप्त) शब्दो द्वारा जो कुछ कहती है, लोक-हित की दृष्टि से उसके कुछ व्याख्यान की आवश्यकता है ।

ऐकमत्य में तत्पर, परमात्मा के विभूतिरूप, (अग्नि, वायु आदि वैदिक) देवगण विश्व के समस्त कार्य को सामनस्य (=पारस्परिक सद्भावना) से करते है ।

अन्ततोगत्वा व्यष्टियो का उद्भव निश्चय-पूर्वक समष्टि से माना गया है । व्यष्टि समष्टि से ही उत्पन्न होती है और उसी मे विलीन हो जाती है ।

इस लिए व्यष्टियो का जीवन, व्यापार और स्थिति, तालाब मे मछलियो के (जीवन आदि के) समान, समष्टि पर ही निर्भर रहते है ।

उक्त कारण से समष्टि के साथ व्यष्टियो का तथा उन (= व्यष्टियो) का भी परस्पर उत्कृष्ट सामञ्जस्य (=अविरोध से एकीभाव) परम लक्ष्य कहा जाता है ।

इस लिए मनीषी लोग समष्टि के कार्य के करने में व्यष्टियो की एकतानता (= अत्यन्त तत्परता) को वास्तव मे धर्म का मूल कहते है ।

उसी स्थिति मे स्थित हुआ विद्वान्, निर्मायिक अथवा निष्कपट भाव से, स्वार्थ और परार्थ के समन्वय मे वस्तुत अद्वैत को मानता है । अर्थात्, एक तत्त्वविद् मनीषी की दृष्टि में सच्चा स्वार्थ परार्थ के साधन मे ही रहता है । इसी लिए उसकी दृष्टि से स्वार्थ और परार्थ मे अद्वैत है ।

[५]

जीवन में आनन्द का रहस्य

आनन्दो जीवने तेषा समष्ट्या ये सहासते ।
व्यष्ट्या सह वर्तनं नूनं दु खाना मुख्यकारणम् ॥४०॥

प्रायेण मानवा. सर्वे व्यष्टावासक्तचेतस. ।
दिवानिशमसंतुष्टा दृश्यन्ते खिन्नमानसा: ॥४१॥
तत्तत्कार्येषु संसक्ता येषामन्तो न विद्यते ।
तदर्थमेव जीवन्त· स्वरूपाद् दूर आसते ॥४२॥
तत्तत्कार्येष्वसंसक्ता स्थितप्रज्ञा मनीषिण. ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टा नूनं ब्रह्मण्यवस्थिता: ॥४३॥

जो समष्टि के आदर्श को लेकर जीवन-यात्रा करते हैं, उनके जीवन में आनन्द रहता है। केवल व्यष्टि के साथ रहना, दु खो का प्रधान कारण है।

प्रायेण सब मनुष्य व्यष्टिभाव में ही चित्त को लगाये रखते है और अत एव दिन-रात असन्तुष्ट और खिन्न मन वाले देखने मे आते हैं।

वैयक्तिक कार्यों मे ही, जिनका अन्त नही है, ससक्त रहते हुए और उन की पूर्ति के लिए ही जीवन-यापन करते हुए वे अपने वास्तविक (आध्यात्मिक) स्वरूप से दूर ही रहते हैं (=अर्थात् अपने स्वरूप को नही पहचानते) ।

(परन्तु) वैयक्तिक कार्यों मे असंसक्त स्थित-प्रज्ञ मनीषी अपने को अपने स्वरूप मे ही सतुष्ट रखते है। उनको वास्तव में ब्रह्म में अवस्थित समझना चाहिए।

[६]

सब व्यष्टियों का परम कारण

आश्रय· सर्वशक्तीना द्वन्द्वातीतं निरञ्जनम् ।
यत्तत्कारणमव्यक्तं शाश्वतं पदमव्ययम् ॥४४॥
अन्तत. सर्वव्यष्टीना परमं कारणं ॱ मतम् ।
यस्मात्परतरं नास्ति तदहं नित्यमाश्रये ॥४५॥

जो मूल तत्त्व समस्त शक्तियो का आश्रय,
और सृष्टि का अव्यक्त कारण है,
द्वन्द्वो से परे, अर्थात् सर्वदा एक-रस, विशुद्ध,
जो ध्रुव अविनाशी पद है,

अन्ततोगत्वा समस्त व्यष्टियो का जो परम कारण है,

और जिससे परे कुछ नही है,

मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।[1]

ऊपरकी रचनाओ मे बतलाया गया है कि व्यष्टिभाव दु खो का मूल है और समष्टि के साथ तादात्म्य के अनुभव मे ही वास्तविक आनन्द का रहस्य छिपा हुआ है। आगे की रचनाओ मे समष्टि के आदर्श को लेकर जीवन-यात्रा करने वाले उन ब्रह्मनिष्ठ मनीषियो की, जिन्होने रागद्वेषादि शत्रुओ का समूल उन्मूलन कर दिया है और जिनकी दृष्टि में स्वार्थ और परार्थ मे वास्तविक अद्वैत की भावना स्थित हो चुकी है, परम आनन्द तथा शान्ति की स्थिति का वर्णन किया गया है—

[७]

आनन्द का स्रोत हमारे अन्दर है

जीवने कश्चिदानन्द सर्वस्यापि स्वभावत ।
'मा न भूवं नु भूयासम्' इति सर्वोऽभिवाञ्छति ॥४६॥

स्वाभाविकं तमानन्दं सुषुप्तौ शैशवे तथा।
अनुभूयापि विस्मृत्य प्रायो वर्तामहे वयम् ॥४७॥

कारणं किं भवेत्तत्र प्रतीकारश्च को भवेत्।
जीवनस्य महान् प्रश्नस्तत्समाधानमुच्यते ॥४८॥

सर्वस्यापि जनस्यान्तर् "मध्व उत्स" इति श्रुति.।
आनन्दानुभवस्तस्मात् स्रोतस एव जायते ॥४९॥

लभन्ते तत्र चेत्स्थानं रागद्वेषादिशत्रव ।
आनन्दस्रोतसस्तस्य रोध संजायते तदा ॥५०॥

---

१. तु० भगवद्गीता ८।२१।

कर्तव्यं प्रथमं तत्र सावधानेन भूयताम्।
पदं येन न लभ्येत शत्रुभिस्तैर्दुरात्मभि: ॥५१॥

सद्विचारप्रवाहेणोन्मूलनं कर्तुमर्हति।
विद्वान् रोधस्य शत्रूणामपि नैवात्र संशय: ॥५२॥

तस्माद्विवेकिनो धीरा सावधाना. प्रयत्नत।
शत्रूनुन्मूल्य तान् नित्यमानन्दमुपभुञ्जते ॥५३॥

सब किसी को स्वभाव से जीवन मे (=जीने मात्र मे) आनन्दानुभव होता है। सब कोई चाहता है 'मै जीता रहूँ, ऐसा न हो कि मैं न रहूँ।'[१]

सुषुप्ति और शैशव मे उस स्वाभाविक आनन्द का अनुभव करके भी, हम प्राय उसको विस्मृत करके जीवन-यात्रा करते हैं।

उसका क्या कारण है और उसका प्रतीकार क्या है? जीवन का यह महान् प्रश्न है। उसका समाधान नीचे कहा जाता है।

श्रुति कहती है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर आनन्द का स्रोत विद्यमान है।[२] उसी स्रोत से (सब किसी को) आनन्द का अनुभव होता है।

(परन्तु) यदि मनुष्य के अन्दर राग द्वेष आदि शत्रु स्थान पा लेते हैं, तब उस आनन्द-स्रोत का अवरोध हो जाता है।

इस सबन्ध में प्रथम कर्तव्य यही है कि मनुष्य सावधान रहे, जिससे उपर्युक्त दुष्टात्मा शत्रु उसके अन्दर स्थान न पा सकें।

(किञ्च,) सद्विचारो के प्रवाह (=सातत्य) से विद्वान् (उपर्युक्त) शत्रुओ द्वारा किये गये अवरोध का उन्मूलन भी कर सकता है, इसमे कोई सदेह नही है।

इसलिए धीर विवेकी मनुष्य प्रयत्न-पूर्वक सावधान रहते हुए उन शत्रुओ का उन्मूलन करके सर्वदा आनन्द का उपभोग करते हैं।

---

१ तु० "सर्वस्य प्राणिन इयमाशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति।" (योगसूत्र-व्यासभाष्य २।९)

२. दे० "विष्णो पदे परमे मध्व उत्स" (ऋग्वेद १।१५४।५)

[८]

अहन्ता का आवरण

शिवरूपं स्वयंज्योतिर्यत्तत्त्वं परं मतम् ।
अहन्तायाः पृथक्त्वेऽपि भाव्यमानमहन्तया ॥५४॥

प्रतीकरूपिणी तस्मादहन्ता तस्य विद्यते ।
तयैवाव्रियते तत्त्वं वारिवाहैरिवांशुमान् ॥५५॥

समष्टिव्यष्टिरूपेण तस्या द्वैविध्यमिष्यते ।
विश्वं तदीयकार्यं च तया सर्वं विधीयते ॥५६॥

समष्टिबुद्ध्या ब्रह्मा सन् विश्वसृष्टिं करोति सा ।
व्यष्टिदृष्ट्यापि व्यक्तीनां तां तां सृष्टिं करोति सा ॥५७॥

अहन्तावरणं तस्माद् भित्त्वा विगतकल्मषः ।
योगी युञ्जन्सदात्मानं स्वीये रूपेऽवतिष्ठते ॥५८॥

वह जो परम तत्त्व है, वह शिव-स्वरूप और स्वयं प्रकाशमान माना गया है। अहन्ता से पृथक् होते हुए भी, वह अहन्ता से भाव्यमान (= प्रतीयमान) होता है।

इसलिए अहन्ता उसकी प्रतीक के रूप में विद्यमान है। मेघों से सूर्य के समान, अहन्ता से ही वह परम तत्त्व आवृत हो रहा है।

उस (अहन्ता) का समष्टि और व्यष्टि रूप से द्वैविध्य माना जाता है। विश्व की सृष्टि तथा उसका सब कार्य उसी के द्वारा किया जाता है।

समष्टि-बुद्धि के रूप में वह ब्रह्मा होती हुई विश्व की सृष्टि करती है। व्यष्टि-दृष्टि से तत्तद् व्यक्तियों की जो सृष्टि (= व्यापार) है उसको भी वही करती है।

इस लिए योगाभ्यास में सदा तत्पर रहने वाला योगी, अहन्ता के आवरण को भेदकर (= हटाकर) और कल्मष (= पाप) से रहित होकर, (अन्तमें) अपने रूप में अवस्थित हो जाता है।

[९]

शोकातीत अवस्था

"मत्वा धीरो न शोचति" (कठोपनिषद् २।१।४)

अर्थात्, आत्मा को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

निधानं सर्वशक्तीनां तेजोरूपं सनातनम्।
अनन्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥५९॥

समस्त शक्तियों के आश्रय, तेज स्वरूप, शाश्वत, अनन्त और व्यापक आत्मा को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को पा लेता है।

वहिरन्तश्च यत्तत्त्वं जगत्संव्याप्य संस्थितम्।
तदभिन्नतयात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥६०॥

जो मूलतत्त्व जगत् को बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त किये हुए है, उसके साथ अभिन्न रूप से अपने को जानकर, बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को पा लेता है।

[१०]

परतत्त्व की उपासना

चराचरस्य लोकस्य साक्षिभूतं निरञ्जनम्।
अनन्तमनवच्छिन्नं दिक्कालाद्यैः स्वयंभुवम् ॥६१॥
हृदयाधिष्ठितं तत्त्वं विरजं निष्कलं महत्।
उपास्महेऽनिशं भक्त्यानन्दस्रोतस्यवस्थिताः ॥६२॥

आनन्द-स्रोत के समीप में बैठे हुए हम भक्ति-पुरस्सर निरन्तर हृदय मे अधिष्ठित उस महान् आत्म-तत्त्व की उपासना करते है, जो समस्त चराचर जगत् का साक्षी है, जो पाप से रहित, अनन्त, दिशा काल आदि से अखण्डित और स्वयभू है, तथा जो निर्मल और निष्कल है।

[११]

समस्त व्यष्टियों का सर्वस्व मूलतत्त्व

येनेदं विश्वमापूर्णं यच्च प्राणा इव स्थितम् ।
सर्वस्वं सर्वव्यष्टीना तत्तत्त्वं समुपास्महे ।।६३।।
यतोऽहं यच्च मे शक्ते स्रोत शाश्वतमव्ययम् ।
सर्वदा जागरूकं च तत्तत्त्वं समुपास्महे ।।६४।।
खिन्नस्तत्तदवस्थाभिर्बाह्याभिरवशो भवन् ।
यतो लभे समाश्वासं तत्तत्त्वं समुपास्महे ।।६५।।

जिससे यह विश्व आपूर्ण है,
जिसकी स्थिति प्राणो के समान है,
जो सब व्यष्टियो का सर्वस्व है,
उसी (मूल-) तत्त्व की हम उपासना करते है ।
जिससे मैं हूँ, और जो मेरी शक्ति का
शाश्वत तथा अविनाशी स्रोत है,
और जो सर्वदा जागरूक है,
उसी (मूल-) तत्त्व की हम उपासना करते है ।
तत्तद् बाह्य अवस्थाओ से खिन्न
तथा विवश होता हुआ मैं
जिससे आश्वास पाता हूँ,
उसी (मूल-) तत्त्व की हम उपासना करते है ।

[१२]

शाश्वत तत्त्व

यदेतच्छाश्वतं तत्त्वं यत सर्वं प्रवर्तते ।
यच्चापि सर्वशक्तीना स्रोतोभूतं नतोऽस्मि तत् ।।६६।।
येयं शान्तिरनन्ता वै विश्वस्यान्तर्विराजते ।
या नूनं सर्ववस्तूनामन्त.सारमिव स्थिता ।।६७।।

शोभासंपत्तिरूपेण व्याप्तमेतज्जगत्त्रयम् ।
गायन्ति वाक्प्रबन्धैर्यां कवयः क्रान्तदर्शिनः ॥६८॥
योगिनो या प्रपश्यन्ति ध्याननिर्धूतकल्मषाः ।
मानसे दर्पणे भायात् सैत्याशीर्मे निरन्तरम् ॥६९॥

यह जो शाश्वत तत्त्व है, जिससे सबकी प्रवृत्ति होती है,
और जो सब शक्तियों का स्रोत स्वरूप है, मेरा उसी को नमस्कार है ।
यह जो अनन्त शान्ति निश्चय रूप में विश्व के अन्दर विराजमान है,
जो वास्तव में समस्त वस्तुओं के मानो अन्त सार रूप में स्थित है,
जो इस त्रिलोकी में शोभा-सम्पत्ति के रूप में व्याप्त है,
जिसका क्रान्तदर्शी कवि-जन अपनी रचनाओं द्वारा गान करते हैं,
ध्यान से जिन्होंने अपने पापों का नाश कर दिया है—
ऐसे योगि-जन जिसका दर्शन करते हैं,
वह मेरे मानस-दर्पण में प्रकाशमान हो—
यही मेरी सतत अभिलाषा है ।

॥ इति जीवनज्योतिषि 'व्यष्टिसमष्ट्योः
सामञ्जस्य' नाम पञ्चदशो रश्मिः ॥

षोडशो रश्मिः

प्रज्ञाप्रसादः

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

(योगसूत्रव्यासभाष्य १।४७)

●

सोलहवीं रश्मि

प्रज्ञा-प्रसाद

ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध-चित्त होकर ही मनुष्य ध्यान द्वारा निष्कल (निरवयव) परम तत्त्व के साक्षात्कार मे समर्थ होता है ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

ज्ञानी प्रज्ञा के प्रासाद के ऊपर पहुँचकर स्वयं शोकरहित हो जाता है। वह उस स्थिति को न पहुँचे हुए लोगो को ऐसे देखता है जैसे पर्वत-शिखर पर स्थित व्यक्ति नीचे भूमि पर स्थित लोगो को देखता है ।

(योगसूत्र-व्यासभाष्य १।४७)

प्रज्ञा - प्रसाद

नर उवाच

व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च दृष्ट्योर्यद्धि विवेचनम् ।
व्याख्यातं हृदयस्पर्शिसरण्या वै तदद्भुतम् ॥ १ ॥
सामञ्जस्येन यद् व्यष्टेः समष्ट्या सह नर्तनम् ।
तद्धि ब्रह्मपदं प्रोक्तं सा वै ब्राह्मी स्थितिर्मता ॥ २ ॥
तस्या स्थितौ स्थिताना यत्स्वरूपं चिन्तनं तथा ।
विस्तरेण समाख्याहि भगवन् ! प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥

नर ने कहा

व्यष्टि और समष्टि की दृष्टियो का जो विवेचन हृदय-स्पर्शी सरणि से (ऊपर) कहा गया है वह निश्चय ही अद्भुत है ।

व्यष्टि का समष्टि के साथ सामञ्जस्य रूप से जो रहना है, उसी को ब्रह्म-पद (अथवा ब्रह्मलोक) कहा गया है, वही ब्राह्मी स्थिति मानी गयी है ।

उस स्थिति में स्थित लोगो का जैसा स्वरूप और चिन्तन होता है, भगवन् ! उसकी विस्तार से व्याख्या कीजिए । मैं आप को प्रणाम करता हूँ ।

नारायण उवाच

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया दृष्टिरद्भुता ।
लब्धेयं जायते यस्या जीवनस्य कृतार्थता ॥४॥
व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च सत्यत्वमुभयोरपि ।
जगदेतद् यथा सत्यं जीवनं चापि तादृशम् ॥ ५ ॥
जीवनस्य समस्या या सर्वस्य पुरतः स्थिता ।
सापि सत्या ततस्तस्याः समाधानमभीप्सितम् ॥ ६ ॥

एषु सत्येषु यत्सत्यं विश्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ।
यत· प्रवर्तते सर्वं तद्धै ब्रह्मपदं स्मृतम् ॥ ७ ॥
वैषम्यस्य पथा यद्धि सौषम्यमधिगम्यते ।
तदेव विश्वसंव्यापिसामरस्यपदाभिधम् ॥ ८ ॥
अहन्ताया. स्वरूपेण जाते प्रथम उद्गमे ।
क्रमशो यस्य विश्रान्तिर्ब्रह्मभावनमिष्यते ॥ ९ ॥
धर्मा· सर्वे प्रवर्तन्ते यतो नि संशयं यथा ।
सूर्यादेव प्रवर्त्तेत रश्मिजालं समन्ततः ॥१०॥
यदेतत्पापकं किञ्चित्तमोरूपं हि यत्स्मृतम् ।
वैषम्यमनृतं तद्धि साम्यावस्थातिरस्कृतम् ॥११॥
तदेव दु खमाम्नातं वस्तुतस्तत्त्वदर्शिभिः ।
भूमानमधिगम्यैव ततो मुक्तिरवाप्यते ॥१२॥
भूमा ब्रह्म परा शान्तिः साम्यावस्थैकतानता ।
सामरस्यं परानन्दः सर्वेऽनर्थान्तिरा इमे ॥ ३॥
विज्ञायैतत्सर्वं विशुद्धसत्त्वोऽनहंवादी ।
प्रज्ञाप्रसादधुर्यो जीवन्नेवामृतो भवति ॥१४॥
जीवत एवामृतत्वमिति त्वं वत्स ! विजानीहि ।
तदन्यथास्तीति केचिदज्ञानतमोऽवलीढास्ते ॥१५॥
रहस्यं परमं ह्येतद् येषामन्तः प्रकाशते ।
अध्यात्मदर्शनं तेषामधः किञ्चित्प्रतन्यते ॥१६॥

श्री नारायण ने कहा

तुम धन्य हो, तुम कृतकृत्य हो, क्योंकि तुमने यह अद्भुत दृष्टि पा ली है, जिसके पा लेने पर जीवन की कृतार्थता हो जाती है।

व्यष्टि और समष्टि दोनो सत्य हैं। जैसे यह जगत् सत्य है, उसी के समान जीवन भी सत्य है।

जीवन की समस्या, जो सबके सामने उपस्थित है, यह भी सत्य है। इसीलिए उसका समाधान सब चाहते हैं।

इन सबों में जो सत्य[1] विश्व को व्याप्त करके व्यवस्थित है, जिससे सबकी प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म-नाद कहा गया है।

वैषम्य के नाश से जिस सौषम्य की प्राप्ति की जाती है, उसीको 'विश्व-व्यापी सामरस्य' इस पद से कहा जाता है।

महत्ता के स्वरूप से प्रथम उद्गम होने पर क्रमशः जिसकी विश्रान्ति ब्रह्म-भाजन के रूप में होती है,

निःसंशय रूप में जिसमें सब धर्म प्रवृत्त होते हैं, जैसे पूर्व से धारा और नदियों के समुद्र की प्रवृत्ति होती है।

यह जो क्षुद्र पाप-रूप में वर्तमान है, जिसे (वास्तव में) अन्धकार-रूप ही माना गया है, वैषम्य और अनृत वही है और यह साम्यावस्था से तिरस्कृत है, अर्थात् उससे उलटा है।

तत्त्वदर्शियों ने वास्तव में उसी को 'दुःख' शब्द से कहा है। उस दुःख से मुक्ति भूमा[1] की प्राप्ति से ही होती है।

भूमा, ब्रह्म, पराशान्ति, साम्यावस्था[2], एकतानता, सामरस्य और परानन्द ये सब समानार्थक हैं। अर्थात् ये सब शब्द एक ही तत्त्व के द्योतक हैं।

यह सब जानकर विशुद्ध-सत्त्व व्यक्ति, जो अहंवादी नहीं है, प्रज्ञा-प्रसाद से सपन्न होते हुए जीते जी ही अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है।

जीते जी को ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है, ऐसा है वत्स। तुम जानो। कुछ लोग कहते है कि ऐसा नहीं है। वे अज्ञानरूपी अन्धकार से ग्रस्त है।

यह परम रहस्य जिनके अन्तःकरण में प्रकाशित है, उन्ही के अध्यात्म-दर्शन का कथन कुछ विस्तार से नीचे किया जाता है।

---

१. तु० "सत्यस्य सत्यम्" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०)

२ तु० "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (भगवद्गीता ५।१९)

[१]

परम तत्त्व की अनुभूति

निर्मलं शाश्वतं शान्तमवाङ्मनसगोचरम् ।
विद्यते यन्महत्तेजस्तन्मे नित्यं प्रकाशताम् ॥१७॥
व्यापि सर्वत्र लोकेषु त्रिषु कालेषु सर्वथा ।
अन्तर्यामि च यत्तत्त्वं तन्मे नित्यं प्रसीदतात् ॥१८॥
निधानं यद्धि शक्तीना सर्वासामन्ततो मतम् ।
आत्मरूपेण सर्वेषा भाति यत्तदुपास्महे ॥१९॥
चराचरमभिव्याप्य तदतीत्य च संस्थितम् ।
अनन्तमनवच्छिन्नं यत्तत्त्वं तदुपास्महे ॥२०॥

जो निर्मल, शाश्वत, शान्त, वाणी और मन का अगोचर, महान् तेज स्वयम्भू रूप से विद्यमान है, वह मेरे लिए सदा प्रकाशित रहे।

जो मूल-तत्त्व सब लोको और तीनो कालो मे व्याप्त है, जो सारे विश्व का अन्तर्यामी रूप से नियमन कर रहा है, वह मेरे लिए नित्य प्रकाशित रहे।

अन्ततोगत्वा जो समस्त शक्तियों का एक मात्र निधान है और जो आत्मरूप से सबको प्रतीत हो रहा है, उसी परम तत्त्व की हम उपासना करते है।

चर-अचर जगत् को व्याप्त करके और उसको भी अतिक्रमण करके जो स्थित है, उसी अनन्त और अनवच्छिन्न परम तत्त्व की हम उपासना करते है।

[२]

मनुष्य का महान् मोह

प्राप्तुं सुखं हि मनुजा जगति भ्रमन्त :
क्लेशान् बहूननुभवन्ति न चाप्नुवन्ति ।
स्रोत. सुखस्य सलिलेन परिप्लुतं तत्
स्वान्तस्तले प्रवहतीति न जानते ते ॥२१॥

सुख पाने के लिए मनुष्य संसार मे घूमते हुए अनेक क्लेशों को सहते है, पर सुख को नही पाते। वे यह नही जानते कि सुख-रूपी जल से लबालब भरा हुआ स्रोत स्वय उनके अन्दर बह रहा है।

आत्मतत्त्व का विवेचन

हमारे वास्तविक उत्थान का मूल आत्म-परीक्षणमें निहित है। इसीलिए हमारा अपना वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसी प्रश्न का उत्तर नीचे की ३ से ६ तक की रचनाओ में अनेक प्रकार से दिया गया है :—

[३]

अपना आनन्दमय स्वरूप

आत्म-तत्त्व के स्वरूप के विषय में विवेकी और अविवेकी मनुष्यो की दृष्टियां का वर्णन नीचे के पद्यो में किया गया है .—

शक्तेर्धाम स्वयंज्योति. कूटस्थं सर्वसाक्षि च।
सर्वदानन्दरूपं तद् आत्मतत्त्वं विवेकिनाम् ॥२२॥

जो विवेकी हैं उनके लिए वह आत्म-तत्त्व शक्ति का धाम, स्वय प्रकाशमान, सर्वदा एकरूप में रहने वाला, सब का साक्षी और सदा आनन्द-स्वरूप है।

संमूढं सर्वदा मग्नं समुद्वेगविषादयोः।
अस्थिरं स्थितिवात्याभिस्तत्त्वं तदविवेकिनाम् ॥२३॥

पर जो अविवेकी है उनके लिए वही आत्म-तत्त्व मोह में पड़ा हुआ, उद्वेग और विषाद मे डूबा हुआ और परिवर्तनशील परिस्थितियो की आँधियो से अस्थिर अथवा चञ्चल रहता है।

[४]

प्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व

आत्मनो यस्य कामाय सर्वे कामा अवस्थिता।
यस्यार्थं तत्तदर्थानामर्थना संप्रवर्तते ॥२४॥

घोरै· परिश्रमै कृत्वा नानायत्नान् दिवानिशम् ।
यन्नाप्यतेऽपि तद् यस्य भोक्तृत्वे पर्यवस्यति ॥२५॥

आत्मनस्तस्य विस्मृत्य स्वरूपं गौरवं तथा ।
क्रोडीकृत्यात्मनो हीनभावना विचरन्ति ये ।२६॥

तथ्यातथ्यविवेकेन हीनाः कृपणबुद्धय ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मता. ॥२७॥

ज्योतिपामपि यज्ज्योतिरात्मतत्त्वं मनीपिणाम् ।
तदेवाज्ञानमूढैर्हा ! प्रत्यक्षं सन्न दृश्यते ! ॥२८॥

चैतन्यं यद्धि ते रूपं भास्वतोऽपि प्रभास्वरम् ।
विद्यते तत्र मोहस्य स्थितेरेव न संभव ॥२९॥

मोहचैतन्ययोर्नित्यं भेद स्वाभाविको मतः ।
तेजस्तिमिरयोर्भावाभावयोरथवा यथा ॥३०॥

जिस आत्मा की कामना के लिए सारी कामनाएँ हुआ करती हैं,
जिस आत्मा के लिए विभिन्न पदार्थों की मांग हुआ करती है,
दिन-रात घोर परिश्रमो के साथ अनेक प्रकार के यत्नो को करके
प्राप्त हुई प्रत्येक वस्तु का सार्थक्य जिस आत्मा के भोक्तृत्व मे रहता है,
उस आत्मा के स्वरूप और गौरव को भुलाकर,
तथा अपनी हीन-भावना को हृदय से पकड़कर जो विचरते हैं,
सत्यासत्य के विवेक से हीन, अनुदार बुद्धि रखने वाले,
तथा घोर अन्धकार मे निमग्न, उन लोगो को श्रुति में आत्मघाती कहा गया है[1] ।

जो आत्मतत्त्व मनीषियो के लिए ज्योतियो का भी ज्योति है,
खेद है ! वही अज्ञान से मूढ व्यक्तियो को प्रत्यक्ष होता हुआ भी नही दिखाई देता !

तेरा यह चैतन्य-रूप सूर्य से भी अधिक प्रकाश वाला है,
उसके विषय मे मोह की स्थिति हो ही नही सकती !
मोह और चैतन्य मे परस्पर जो भेद है वह सदा स्वाभाविक माना गया है,
वह भेद ऐसा ही है जैसा प्रकाश और अन्धकार मे अथवा भाव और अभाव मे ।

---

१ देखिए ईशावास्योपनिषद् ३ ।

[५]

आत्मतत्त्व की स्थिरता

चञ्चले तु जगत्यस्मिन्नेक आत्मैव निश्चलः ।
तत्र चञ्चलभावाना कृते ते विभ्रम कुतः ? ॥३१॥

जीवनेऽस्मिन्नवस्थाना भेद. स्वाभाविकस्तथा ।
वाहुल्येनानिवार्योऽपि दृश्यते नात्र संशय. ॥३२॥

कृते तासामवस्थाना हर्ष शोकोऽथ खिन्नता ।
अभिमानोऽथवा गर्वो युज्यते नैव नैव हि ॥३३।

इस अस्थिर स्वभाव वाले जगत् में केवल एक आत्मा ही निश्चल है । ऐसी अवस्था में अस्थिर पदार्थों के सम्बन्ध में तुझे विभ्रम क्यो है ?

इस जीवन मे अवस्थाओ मे परिवर्तन का होना स्वाभाविक है और प्रायेण वह अनिवार्य भी होता है, इसमे कोई सन्देह नही है ।

इसलिए उन अवस्थाओ के सम्बन्ध में हर्ष, शोक, खेद, अभिमान अथवा गर्व का करना किसी प्रकार युक्त नही है ।

[६]

महात्माओ का स्वभाव

आत्म-तत्त्व को समझने वाले महात्मा अपने निश्चयो पर पत्थरो की चट्टानो के समान दृढ रहते है, इसो सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्यो मे किया गया है —

जीवनेऽस्मिन्नवस्थानामागमोऽपाय एव च ।
स्वभावत. समायाति सर्वस्यापीति निश्चय: ॥३४॥

तत्त्वमेकं परं तत्र कूटस्थत्वेन वर्तते।
तदेव शरणं गत्वा शान्तिमृच्छति मानवः ॥३५॥

इस जीवन मे निश्चय ही सब किसी के साथ सुख-दु:खादि की अवस्थाओ का आना-जाना स्वभाव से ही होता रहता है। पर उन अवस्थाओ में भी एक आत्म-तत्त्व अविचल रूप मे (कूटस्थभाव मे) बराबर वर्तमान रहता है। उसी की शरण मे जाकर, उसी के साथ अपने तादात्म्य को समझ कर, मनुष्य शान्ति को पाता है।

हर्षेण वा विषादेन स्वरूपाद्विच्युतो नरः।
वात्यावेगेन संक्षुब्धवृक्षावलिसमो मतः ॥३६॥

शिलासंघातसंकाशा सुस्थिरा दृढनिश्चयाः।
सत्त्ववन्तो महात्मानः शोभन्ते क्षोभवर्जिताः ॥३७॥

हर्ष अथवा विषाद के कारण जो मनुष्य अपने स्वरूप से विच्युत हो जाता है वह आँधी के वेग से अत्यन्त चञ्चल वृक्षावली के समान है।

परन्तु सत्त्वशील महात्मा लोग पत्थरो की चट्टानो के समान सुस्थिर, दृढ-निश्चय और सदा क्षोभ से रहित होते हुए शोभायमान रहते है।

[७]

दृश्य हमारे लिए है

दृश्य और द्रष्टा के बीच में द्रष्टा का ही प्राधान्य होता है, इसी सिद्धान्त को नीचे के पद्यो मे समझाया गया है —

गतागतत्वाद् दृश्यानामस्थिराणां स्वभावतः।
एकोऽहं निश्चलो द्रष्टा वर्ते नैवात्र संशयः ॥३८॥

अतो मदर्थं दृश्यानि न तदर्थं ममास्तिता।
ततस्तत्कारणात्क्षोभः सर्वथा न ममोचितः ॥३९॥

अस्थिरमेतत्सकलं दृश्यं यद्भासते परित. ।
द्रष्टृत्वेनाचलं हि जानीयास्तत्त्वमात्मानम् ॥४०॥

दृश्य आने-जाने वाले होने से स्वभाव से ही अस्थिर होते है। मै अकेला उनको देखने वाला निश्चल रहता हूँ, इसमें सन्देह नही है।

अत दृश्य मेरे लिए है, मेरा अस्तित्व दृश्यो के लिए नही है। इसीलिए दृश्यो के कारण मुझे क्षोभ हो, यह किसी प्रकार उचित नही है।

यह सारा दृश्य (जगत्), जो हमारे चारो ओर भासित हो रहा है, अस्थिर है। (पर) तुम आत्म-तत्त्व को, यत वह द्रष्टा है, निश्चय रूप से अचल जानो।

[८]

आत्म-स्वरूप में संस्थिति

अहंकारेण निर्मुक्तं तत्त्वं यच्छुद्धमव्ययम् ।
तत् त्वं भ्रातर्न जानीषे तत् त्वं तत्ते महद्धनम् ॥४१॥

यस्याभीप्साजिहासाभ्या व्याप्तमेतज्जगत्त्रयम् ।
सार्थक्यं लभते नूनं यस्यैवेक्षणमात्रतः ॥४२॥

महत्त्वममहत्त्वं वा सर्वस्यापीह वस्तुन. ।
यस्यापेक्षामुपेक्षा वा समाश्रित्यैव तिष्ठति ॥४३॥

संस्मृतिस्तस्य तत्त्वस्य नियतं ह्यनपायिनी ।
स्वरूपे संस्थिति· सत्यमात्मसंमानना मता ॥४४॥

अहकार से निर्मुक्त जो शुद्ध ध्रुव तत्त्व है, भाई तुम उसको नही जान रहे हो। वास्तव में तुम वही हो, वही तुम्हारा बड़ा धन है।

जिसकी अपनी अभीप्सा (= प्राप्त करने की इच्छा) और जिहासा (=छोडने की इच्छा) से व्याप्त इस त्रिलोकी की सार्थकता उसके ईक्षण-मात्र से सम्पन्न होती है,

[९]

मैं कौन हूँ ?

सारवत्त्वमसारत्वं मूल्यवत्त्वमथान्यथा ।
वस्तूनां निर्णयापेक्षि यस्य सोऽहं न संशयः ॥४५॥

साहन्ति बलि यस्मै दृश्यानीमानि नित्यशः ।
विश्वभुग् विश्वसाक्षी न सोऽहं नैवात्र संशयः ॥४६॥

मांसमज्जादिभिः पूर्णो देहोऽयं पूतिपूरितः ।
मनोज्ञो भातिरम्यापि येन सोऽहं न संशयः ॥४७॥

कोई भी पदार्थ सारवान् है अथवा सारहीन, मूल्यवान् है अथवा मूल्यहीन—इस बात में जिसके निर्णय की अपेक्षा की जाती है, निस्सन्देह मैं वही हूँ।

ये सारे दृश्य पदार्थ पूजा रूप में जिसके लिए अपने अनुभवों की बलि देते हैं वह विश्व का भोक्ता और साक्षी मैं ही हूँ, इसमें संदेह नहीं है।

मांस मज्जा आदि से पूर्ण और दुर्गन्ध से पूरित यह शरीर जिसके कारण सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है, निःसन्देह मैं वही हूँ।

ब्रह्म का चिन्तन

ऊपर आत्म-तत्त्व का विचार किया गया है। उस विचार का पर्यवसान विश्व-प्रपञ्च के मूल-तत्त्वरूप ब्रह्म के चिन्तन में ही होता है। नीचे की रचनाओं (१०–१६) का इसी विचार से सबन्ध है—

[१०]

ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्ति का क्रम

आत्मनो ब्रह्मसायुज्यक्रमव्याख्या विधीयते ।
प्रथमं जडात्मकं सर्वं तमोऽवस्थानमेव तत् ।४८॥

प्रकृत्या बलशालिन्या तमोभूयिष्ठया तदा ।
आच्छादितो य एवाग्नि शेते सुप्त इवोरग ॥४९॥

सधूमो रागयोगेण रजोऽवस्थानमेव तत् ।
स एव निर्मल शान्त. सत्त्वभूयिष्ठ उच्यते ॥५०॥

तस्यैवोपरमोऽनन्ते शान्ते ब्रह्मण्यसंशयम् ।
निर्वाणमथ सायुज्यममृतत्वं च गीयते ॥५१॥

एवं तमोरज सत्त्वावस्था क्रान्त्वा तदमृतम् ।
चैतन्यमश्नुतेऽद्वैतं ब्रह्मणा प्रणवेन वै ॥५२॥

व्यष्टि-रूप आत्मा ब्रह्म के साथ किस क्रम से सायुज्य अथवा अद्वैत को प्राप्त करता है या कर सकता है, इसी की व्याख्या यहाँ की जा रही है।

जीव के क्रमिक विकास में जो सब से नीचे की या प्राथमिक अवस्था होती है वह जडावस्था से अभिन्न होती है, उसे घोर तामसिक स्थिति ही समझना चाहिए।

उस अवस्था में अत्यधिक तम स्वरूपिणी तथा बलशालिनी प्रकृति से आच्छादित चैतन्य-रूप अग्नि, सोये हुए सर्प के समान, मानो सुप्तावस्था में रहती है।

वही चैतन्य-रूप अग्नि जब राग (= आसक्तिरूप रक्तता) के योग से मानो सधूम अवस्था को प्राप्त हो जाती है, उसी को रजो-गुण की स्थिति समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि घोर तामसिक अवस्था से ऊपर उठते हुए जीव मे जो रागात्मक प्रवृत्ति का विकास होता है उसको राजस स्थिति ही समझना चाहिए।

राख से ढकी हुई कण्डे की आग वायु के लगने से सुलगने और धुआँ देने लगती है, वही स्थिति उक्त द्वितीय अवस्था मे आत्मा की होती है।

वही चैतन्यरूप अग्नि जब निर्मल और शान्त होकर प्रकाशित हो उठती है तब उसमें सात्त्विक अवस्था का अत्यधिक विकास हुआ समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि अपने प्रकाश की उत्कृष्ट अवस्था मे शुभ्र, निर्मल और शान्त दिखलायी देती है, ऐसे ही उत्कृष्ट सात्त्विकता के विकसित होने पर आत्मा निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

उसी व्यष्टयात्मक चैतन्य की जब अनन्त तथा शान्त ब्रह्म मे उपरति हो जाती है उसी अवस्था का शास्त्रो मे 'निर्वाण' अथवा 'सायुज्य' अथवा 'अमृतत्व' इन शब्दो से वर्णन किया गया है।

अभिप्राय यह है कि अग्नि जैसे अपनी अन्तिम स्थिति में समष्टयात्मक अग्नि मे लीन हो जाती है, आत्मा की 'निर्वाण' अवस्था को भी वैसा ही समझना चाहिए।

इस प्रकार व्यष्टि-रूप आत्मा क्रमश तामस, राजस और सात्त्विक अवस्थाओ को पार करता हुआ अन्त मे ब्रह्म के साथ अमृत-रूप अद्वैतावस्था को प्राप्त कर लेता है।

शास्त्रो में उसी ब्रह्म का वर्णन प्रणव या ओंकार रूप से भी किया गया है।[1]

---

१. तु० "ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।......... इति सर्व-मोङ्कार एव। "सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म...। अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।"

(माण्डूक्योपनिषद् १।२।१)

[११]

विशाल-चिन्तन का महत्त्व

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः॥
(छान्दोग्योपनिषद् ७।२३।१)

अर्थात्, जो विशाल है, महान् है, वही सुख-रूप है। अल्प में, लघु में, सुख नहीं रहता। निःसन्देह महान् ही सुख है। इसलिए महान् का ही विशेष रूप से जानना चाहिए।

लघु स्वार्थों का सतत चिन्तन ही मनुष्य की अशान्ति का मूल कारण है और विशाल-चिन्तन में ही उसकी सच्ची शान्ति का रहस्य निहित है, इसी तथ्य का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है —

शरीरात्मा लघुस्तस्य नैव कार्या विचारणा।
चिन्तनं हि लघोर्यस्माल्लघुतापादकं मतम् ॥५३॥
भूमा वै सुखमाम्नातं सुखमल्पे न विद्यते।
अनर्थान्तरता तस्मान्मता भूमपरात्मनोः ॥५४॥
ब्रह्मविज्जायते ब्रह्म ह्याम्नातमसकृच्छ्रुतौ।
तस्माद् ब्रह्मविचारेऽथो निमग्न शान्तिमाप्नुहि ॥५५॥
तत्त्वमानन्दरूपं तदादिमं नात्र संशयः।
तथापि महदाश्चर्यं दृश्यन्ते दुःखिनो जनाः ॥५६॥
एकमेवाद्वितीयं तन्मूलं सर्वस्य वस्तुनः।
तद्विकासाः समे भावा नियतं तत्स्वरूपिणः ॥५७॥
इत्येवं सततं ध्यायन्मुनिर्ब्रह्मपरायणः।
लघुतापादकान्भावान् भित्वा भूमानमश्नुते ॥५८॥

शरीर-धारी तत्तद् व्यक्ति का व्यक्तित्व लघु है। केवल उसी के स्वार्थ के विचार में मनुष्य को नहीं लगा रहना चाहिए। क्योंकि लघु का चिन्तन लघुता को लाने वाला होता है।

विशालता में अथवा महत्ता में ही सुख रहता है, ऐसा (उपरि-निर्दिष्ट) श्रुति मे कहा गया है। अल्प मे, लघु में, सुख नही रहता। इसीलिए 'भूमन्' (=महत्) और 'परमात्मन्' दोनो शब्द वास्तव मे समानार्थक हैं, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है।[1]

ब्रह्म जो भूमा है उसको जानने वाला ब्रह्म हो जाता है, ऐसा श्रुति में बार-बार कहा गया है। इसलिए ब्रह्म-विचार-रूपी सागर मे निमग्न होकर तुम शान्ति को प्राप्त करो।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य का चिन्तन जितना ही विशाल होगा अथवा लघु स्वार्थों से ऊपर रहेगा उतना ही अधिक सच्चे सुख और शान्ति का अनुभव उसको होगा।

जो आदिम अथवा मूल तत्त्व है वह अपने मे पूर्ण होने से आनन्द-स्वरूप है, इसमें सन्देह नही हो सकता। तब भी मनुष्य दुखी दिखायी देते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। परन्तु

'एक ही अद्वितीय परमतत्त्व सब वस्तुओ के मूल मे है। इसलिए उसी से विकसित होने वाले समस्त पदार्थ निश्चय रूप से तत्स्वरूप ही है।'

ब्रह्मपरायण मुनि इस प्रकार सतत चिन्तन करता हुआ चित्त में लघुता को लाने वाले विचारो को दूर भगाकर भूमा को, परमात्मा को, अथवा सच्चे सुख और शान्ति को, प्राप्त करता है।

[१२]

अनन्त की यात्रा

विहगोऽनन्त आकाशे विचरन्नपि यदा कदा।
वृक्षाग्रं पर्वताग्रं वा यथैवाश्रित्य तिष्ठति ॥५६॥

---

१. इस सम्बन्ध में 'ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्य' का भूमाधिकरण (१।३।८-९) देखिए।

तथैव पथिकोऽनन्ते विचरन् ब्रह्मणोऽध्वनि ।
तांस्तानाश्रयते देवान् तत्तदादर्शरूपिणः ॥६०॥
उच्चादुच्चप्रदेशांस्तान् लब्ध्वा सोऽध्यात्मवर्त्मनि ।
असक्तो निर्ममो गच्छन् ब्रह्मसायुज्यमश्नुते ॥६१॥

जैसे अनन्त आकाश में इधर-उधर विचरता हुआ एक पक्षी वृक्ष की चोटियों पर या पर्वत के शिखर पर आश्रय पाकर बैठ जाता है,

इसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति की अनन्त यात्रा का पथिक भी विचरता हुआ तत्तद् उदात्त आदर्शों के रूप में[1] तत्तद् देवताओं का आश्रय लेता हुआ आगे-आगे बढ़ता जाता है।

इस प्रकार वह अध्यात्म मार्ग में ऊँचे से ऊँची स्थितियों (भूमियों) को पाकर अनासक्त और निर्मम भाव से ऊपर उठता हुआ अन्त में ब्रह्म-सायुज्य को पा लेता है।

[१३]

विश्व का सूत्रधार

यदन्त. शाश्वतं तत्त्वं तेजोरूपमकल्मषम् ।
तन्मनास्तत्परो भूत्वा विचरेन्ना गतस्पृह. ॥६२॥
कार्यकारणसूत्रेण जगदेतत् परात्मना ।
चाल्यतेऽचलभावेन काष्टपुत्तलिका इव ॥६३॥
कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् नैव किंचिदहेतुकम् ॥६४॥

तेजोरूप अकल्मष (=मल या पाप से रहित) जो शाश्वत सर्वान्तर्यामी मूलतत्त्व है, मनुष्य को उसका चिन्तन करते हुए और उसमे विश्वास रखते हुए तृष्णा या लिप्सा से रहित होकर विचरना चाहिए ।

---

१. देखिए ऊपर आठवी रश्मि में पद्य ३४ ।

तथ्य तो यह है कि सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही इस जगत् को कठ-पुतली के समान अचल भाव से कार्य-कारण के सूत्र (=डोर) द्वारा चला रहे हैं।

जब कि कोई सूत्रधार कार्य-कारण के सूत्र द्वारा इस जगत् को चला रहा है तब यह निश्चित जानो कि इस जगत् में कोई भी बात निर्हेतुक नहीं हो सकती।

[१४]

अभिमान का आवरण

आनन्दं विभुमात्मानं ब्रह्म प्राहुर्मनीषिणः।
सर्वत्रगमतोऽस्माभिः सान्निध्यं तस्य विद्यते ॥६५॥

सान्निध्यं कथमत्रेति जिज्ञासा न प्रयोजिका।
सत्यस्मिन् नित्यसान्निध्ये कुतोऽस्माकं विषण्णता? ॥६६॥

प्रश्न एष महांस्तावत् ममोद्वेगाय जायते।
तस्यैतस्य समाधानं किञ्चिदत्र प्रपञ्च्यते ॥६७॥

अभिमानो दुरन्तोऽयं तम आवरकं यथा।
व्याघातकारणं तत्र सान्निध्ये न. प्रतीयते ॥६८॥

आवृत्य परितः पृथ्वी वर्तते वायुमण्डलम्।
आत्मानमभिमानोऽयं तथैवावृत्य तिष्ठति ॥६९॥

अभिमानेन मूढोऽयं सन्निधावपि संस्थितम्।
आनन्दधाम सर्वत्र व्याप्तं तत्त्वं न पश्यति ॥७०॥

ततो ज्ञानासिना धैर्यचर्म संगृह्य बुद्धिमान्।
छित्त्वाहंकारमानन्दी ब्रह्मणा संगतो भवेत् ॥७१॥

तत्त्वदर्शियो का कहना है कि ब्रह्म स्वभावत आनन्द-स्वरूप, सर्वत्र फैला हुआ, सब का आत्मा और सर्व-व्यापक है। ऐसी दशा में हमारे साथ उसका सान्निध्य है, यह स्वत सिद्ध है।

पर यहाँ 'यह सान्निध्य क्यो कर है ?' इस जिज्ञासा से हमारा कोई प्रयोजन नही है। प्रश्न तो यह है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ नित्य रहने वाले इस सान्निध्य के होने पर भी हमारी यह विषण्णता क्यो है ? उसका क्या कारण है ?

यही महान् प्रश्न हमारे सामने है। इसी से हम उद्विग्न हो रहे हैं। इसी के समाधान की कुछ चर्चा हम यहाँ करना चाहते है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अन्धकार सब पदार्थों को ढक लेता है, इसी प्रकार हमारा यह दु खदायी अभिमान ही ब्रह्म के साथ हमारे सान्निध्य मे व्याघात का कारण हो रहा है।

जैसे पृथ्वी को चारो ओर से वायु-मण्डल आवृत किये हुए है, इसी प्रकार यह अभिमान हमारी आत्मा को आवृत किये हुए रहता है।

अभिमान से मूढावस्था को प्राप्त मनुष्य अपनी सन्निधि में भी रहनेवाले आनन्द के धाम तथा सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म-रूप परम-तत्त्व का अनुभव नही कर पाता।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह धैर्यरूपी ढाल को लेकर ज्ञान-रूपी खड्ग से अहकार-शत्रु का सहार करके ब्रह्म के सान्निध्य को पाकर सदा आनन्द का अनुभव करे।

[१५]

परमतत्त्व का आश्रय

जगत्यस्मिन् मदीयं किमिति वक्तुं न शक्यते।
देहोऽप्ययं मदीयो यो न मदीयोऽस्ति वस्तुत ॥७२॥

अहन्तापि मदीया या न मदीयास्ति वस्तुत।
मदीयभावना नूनं यत सर्वा प्रवर्तते ॥७३॥

अहन्तया विना यत्तत्साक्षात्त्वेन व्यवस्थितम्।
तत्त्वं तदेव वेत्तव्यं 'मदीयम्' अपि तद् भवेत् ॥७४॥

तदेव वस्तुतो ज्ञेयं यतः सर्वं प्रवर्तते।
यत्रैव च लयं याति तत् त्वं तत्त्वं समाश्रय ॥७५॥

इस जगत् में मेरा क्या है ? यह नही कहा जा सकता। यह शरीर भी जो मेरा है, वास्तव में मेरा नहीं है।

जो मेरी अहन्ता है, जिससे मेरेपने की सारी भावना निश्चित रूप से प्रवृत्त होती है, वह भी वस्तुत मेरी नही है।

अहन्ता के बिना, जो साक्षाद्रूप से (अर्थात् स्वरूपत्वेन) व्यवस्थित है, उसी को तत्त्व समझना चाहिए। कदाचित् उसी को 'मेरा' कहा जा सकता है।

वास्तव मे वही ज्ञेय है। उसी से सब कुछ प्रवृत्त होता है और उसी में विलीन हो जाता है। उसी तत्त्व का तुम आश्रय लो।

[१६]

शैशवी अवस्था का दिव्य संदेश

अध्यात्म-मार्ग के पथिक के लिए, दूसरे शब्दो मे, अपने जीवन में ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव चाहने वाले के लिए, एक सुन्दर आदर्श के रूप मे दिव्य शैशवी अवस्था का हृदयस्पर्शी चित्रण नीचे के पद्यो में किया गया है :—

अवस्था शैशवी दिव्यामामनन्ति मनीषिणः।
गुणाना कीर्तनं तस्याः क्रियते शान्ति-वर्धनम् ॥७६॥

चिन्ता यापरिमेयान्ता लोकान् संव्याप्य तिष्ठति।
तस्या नाम्नापि सद्भावस्तस्यां किञ्चिन्न दृश्यते ॥७७॥

सन्दिहानमनोवृत्ति संशयावसरस्तथा।
अंशेनापि न विद्येते यतः शान्तिमयी हि सा ॥७८॥

किञ्चिल्लोकोत्तरं ज्योतिर्दोषसंस्पर्शवर्जितम्।
शान्ते प्रसारकं मन्ये शिशुभावेन तिष्ठति ॥७९॥

मनीषी लोग शैशवी अवस्था को दिव्य अवस्था बतलाते हैं। शान्ति को बढ़ाने वाला उसी के गुणो का कीर्तन यहाँ हम करेंगे।

कभी समाप्त न होने वाली जो चिन्ता सब लोगो को व्याप्त किये हुए है उसकी नाममात्र की भी सत्ता उस अवस्था मे नही पायी जाती।

सब कामो मे सन्देह करने वाली मनोवृत्ति तथा सशय का अवसर दानो किञ्चिन्मात्र भी उसमे नही पाये जाते, क्योकि वह अवस्था केवल शान्तिमयी होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दोषो के संस्पर्श से रहित और शान्ति का प्रसार करने वाली कोई लोकोत्तर ज्योति शिशुभाव से स्थित हो रही है[1]।

प्राणरक्षाकृते लोकाश्चिन्तासन्तानकर्षिताः।
दृश्यन्ते भयविभ्रान्ता धावन्त इव सर्वतः ॥८०॥

तेषु तेषु प्रयत्नेषु साधकं बाधकं प्रति।
रागद्वेषौ प्रजायेते सर्वस्यापि न संशय. ॥८१॥

परेशस्य जगद्भर्तुर्मायया मातृरूपया।
रक्षिताना शिशूना सा चिन्ता नैवोपपद्यते ॥८२॥

रागद्वेषभयै शून्या निश्चिन्ता. प्रेममूर्त्तय।
सर्वेषा शिशवस्तस्मान्मोदमादधते सदा ॥८३॥

निर्माया निरहङ्कारा स्पर्धयास्पृष्टमानसाः।
प्रसन्नचेतसो नूनं शिशवो वशिभि. समा ॥८४॥

सासारिक लोग अपने प्राणो की रक्षा के लिए नानाप्रकार की चिन्ताओ से सन्तप्त तथा एक-न-एक भय से विभ्रान्त मानो सब तरफ दौड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं।

प्रत्येक मनुष्य मे अपने विभिन्न प्रयत्नो मे साधक और बाधक वस्तुओ या व्यक्तियो के प्रति क्रमश राग और द्वेष के भाव उत्पन्न हुआ करते हैं।

परन्तु जगदीश्वर भगवान् की मातृ-रूपिणी माया से सुरक्षित शिशुओ में वह दु ख-दायिनी चिन्ता नही पायी जाती।

---

१ तु० "सुताभिधान स ज्योति सद्य शोकतमोऽपहम्।" (रघुवशमहाकाव्य १०।२)।

राग, द्वेष और भय के भावो से शून्य, चिन्ता से रहित, प्रेम के मूर्त्ति-स्वरूप शिशु सब के लिए प्रसन्नता को देनेवाले होते है ।

छल-कपट और अहङ्कार से रहित, जिनके मन में स्पर्धा ने स्पर्श भी नही किया है, अत एव सदा प्रसन्न-चित्त शिशुओ को सयतेन्द्रिय महात्माओ के समान समझना चाहिए ।

नानाधिव्याधिखिन्नाना सन्तापैस्तप्तचेतसाम् ।
दुर्भावनापरीताना मर्त्यलोकाधिवासिनाम् ॥८५॥
शान्तिप्रसादमाधुर्यदिव्यसंदेशवाहिन ।
देवदूतान् शिशून्मन्ये देवलोकादुपागतान् ॥८६॥

नाना प्रकार की आधियो और व्याधियो से खिन्न, सन्तापो से सन्तप्त और अनेकानेक दुर्भावनाओ से ग्रस्त मर्त्यलोकाधिवासी लोगो के लिए

शान्ति, प्रसाद और माधुर्य के दिव्य सन्देशो को देनेवाले शिशुओ को देवलोक से आये हुए देवदूत मानना चाहिए ।

अवस्था शैशवी तस्माद् आहुरादर्शमुत्तमम् ।
मनीषिणो मनुष्याणा कृते लोकहितैषिण. ॥८७॥
बालभावेन तिष्ठासेद् विद्वान् शान्तिपरायण' ।
श्रुतिरेतज्जगौ तस्माल्लोककल्याणकाम्यया ॥८८॥
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम् ।
आरुरुक्षोर्मुनेरर्थे शैशवाश्रयणं हितम् ॥८९॥

इसीलिए लोकहितैषी मनीषियो ने मनुष्यो के लिए शैशवी अवस्था को उत्तम आदर्श कहा है ।

इसीलिए शान्तिपरायण विद्वान् को बालभाव से रहने की इच्छा करनी चाहिए—ऐसा लोक-कल्याण की कामना से श्रुति (उपनिषद्)[1] ने गान किया है ।

---

१ तु० "तस्माद् ब्राह्मण पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् ।"
(बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१)

वेदान्तसूत्रों[1] ने भी हेतु और उपपत्ति के साथ ऐसा सिद्धान्त निश्चित किया है कि आध्यात्मिक जगत् मे ऊपर उठने की इच्छा रखने वाले मुनि के लिए शैशव-भाव को धारण करना श्रेयस्कर है।

तमेव शैशवादर्शमनुगच्छन्निरन्तरम् ।
प्रसन्नो दोषनिर्मुक्तस्तिष्ठेयमिति भावये ॥६०॥

उसी शैशवी अवस्था के आदर्श का निरन्तर अनुसरण करते हुए दोषो से रहित होकर मैं प्रसन्नता से रहूँ, यही मेरी कामना है।

परम-तत्त्व का साक्षात्कार

मूल-तत्त्व के चिन्तन और विश्वास को अपने जीवन का आधार और चरम लक्ष्य समझने वाले तत्त्वदर्शी विवेचक की दृष्टि से परम-तत्त्व के स्वरूप के वर्णन के साथ-साथ उसके चिन्तन से जनित अपनी अनुभूति का दिग्दर्शन भी नीचे की रचनाओं में किया गया है :—

[१७]

आनन्दघन अद्वैततत्त्व

यदेतदमृतं किञ्चिद् व्याप्य विश्वं व्यवस्थितम् ।
सर्वेषामपि भावानामन्ततः सारमुत्तमम् ॥६१॥
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिः परमं यत्परायणम् ।
ओतप्रोतं जगद्येन यदाश्रित्यैव संस्थितम् ॥६२॥
यदाश्रित्यैव वर्तन्ते संबन्धा विश्वविस्तृता ।
जडचेतनयोर्वापि चेतनाना परस्परम् ॥६३॥

---

१. तु० "अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्" (वेदान्तसूत्र ३।४।५०)।

प्रेमरूपेण बध्नाति सत्यरूपेण वा पुनः।
अथवाऽऽकर्षणेनैव तत्तद् वस्तु परस्परम् ॥९४॥
व्यक्तं यत्प्रेम्णि मातुर्यन्मैत्रीभावनया सताम्।
आकर्षणेन गीतानां कारुण्येन महात्मनाम् ॥९५॥
आनन्दघनमद्वैतं जगतः प्रभवाप्ययम्।
जीवनस्य परं स्रोतस्तदहं नित्यमाश्रये ॥९६॥

यह जो कोई अद्भुत (तत्त्व) विश्व को व्याप्त करके अवस्थित है,
जो अन्न से लेकर समस्त भौतिक पदार्थों का उत्तम सार है,
जो ज्योतियों का ज्योति, जो अन्तिम परायण है,
जिससे ओत-प्रोत हुआ जगत् जिसके आश्रय पर ही संस्थित है;
जड़ और चेतन के अथवा चेतनों के ही परस्पर जो विश्व में विस्तृत
सबन्ध हैं वे जिसका आश्रय लेकर ही वर्तमान हैं,
(जो) तत्तद् वस्तु को प्रेम-रूप से अथवा सत्य-रूप से,
अथवा आकर्षण द्वारा ही परस्पर बाँधे हुए है,
जो माता के प्रेम में, सत्पुरुषों की मैत्री भावना द्वारा, गीतों के
आकर्षण द्वारा तथा महात्माओं के कारुण्य से व्यक्त होता है,
उस आनन्दघन, अद्वैत, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण-भूत, तथा
जीवन के महान् स्रोत-स्वरूप (तत्त्व) का मैं सदा आश्रय लेता हूँ।

[१८]

मूल-तत्त्व में आस्था

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियन्तृ यत्।
जीवनस्य परं मूलं तदहं नित्यमाश्रये ॥९७॥

विस्मृतेनापि बहुधा मया मोहवशेन हा ।
विस्मर्ये न क्षणं येन तदहं नित्यमाश्रये ॥९८॥
प्राणानामपि मे प्राणः परमं यत्परायणम् ।
वरेण्यं शरणं पुण्यं तदहं नित्यमाश्रये ॥९९॥

जो मूलतत्त्व प्रेम और कारुण्य का स्थान है,
जो समस्त विश्व को नियन्त्रण मे रखता है,
जो जीवन का परममूल है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ ।
हा ! मै मोहवश
प्राय उसे भूला रहता हूँ ।
पर जो क्षण भर के लिए भी मुझे नही भुलाता,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ ।
जो मेरे प्राणो का भी प्राण है,
जो जीवन का परम उत्कृष्ट आदर्श है,
जो वरणीय पवित्र शरण-स्थान है,
मै सदा उसी का आश्रय लेता हूँ ।

ध्यायते योगिभिर्नित्यं ज्ञानिभिश्चिन्त्यते तथा ।
भक्ता गानरता यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१००॥
सन्तोऽपि यस्य सत्ताया विश्वासेन निरन्तरम् ।
जीवन्मुक्ता वसन्तीह तदहं नित्यमाश्रये ॥१०१॥

योगी सदा जिसका ध्यान करते हैं,
ज्ञानी जिसका चिन्तन करते है,
भक्त-जन जिसके गान मे रत रहते है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ ।
सन्त-महात्मा जिसकी सत्ता के विश्वास ने,

संसार में निरन्तर
जीवन्मुक्तों का जीवन व्यतीत करते हैं,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

गीयते कीर्तिसंगीतं सुगन्धिसुमनोहरैः ।
निःशब्दं कुसुमैर्यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०२॥
सौन्दर्यं विश्वविस्तीर्णं कवयः क्रान्तदर्शिनः ।
पश्यन्त्यलौकिकं यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०३॥
शुद्धोदात्तविचारेषु परार्थे जीवने तथा ।
मन्ये मे दर्शनं यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०४॥
व्यष्टेरस्या मदीयायाः सर्वस्वं निलयस्तथा ।
समष्टिरूपं यत्तत्त्वं तदहं नित्यमाश्रये ॥१०५॥
अपूर्णतासु सर्वासु तथाकाङ्क्षास्वसंशयम् ।
संकेतो यस्य पूर्णस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०६॥
यन्नूनं परमं सत्यं नैव किञ्चिद्बहिर्यतः ।
सन्निधावथ दूरे यत् तदहं नित्यमाश्रये ॥१०७॥

सुगन्धित सुमनोहर पुष्प जिसकी कीर्ति के संगीत का निःशब्द-भाव से गान करते हैं, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

जिसके समस्त विश्व में फैले हुए अलौकिक सौन्दर्य को क्रान्त-दर्शी कविगण देखते हैं, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

पवित्र उदात्त विचारों में तथा परार्थ जीवन में मुझे जिसकी झाँकी मिलती है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

जो विश्व का समष्टि-रूप तत्त्व मेरी इस व्यष्टि (= व्यक्ति) का सर्वस्व और एकमात्र निकेतन है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

समस्त अपूर्णताओं में तथा समस्त आकांक्षाओं में जिस पूर्ण-तत्त्व का निश्चित संकेत मिलता है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

निश्चय ही जो परम सत्य है, जिससे बाहर कुछ भी नहीं है, जो पास भी है और दूर भी है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

[१९]

आनन्द की अनुभूति

नित्यं तस्य जगद्भर्तुः प्रतिवेशे वसन्नपि।
दारिद्र्येणाभिभूतोऽहमिति मिथ्यामतिर्मम ॥१०८॥

सदा उस विश्वभर भगवान् के पड़ोस मे रहते हुए भी, मेरा 'मै दारिद्र्य से अभिभूत हूँ' ऐसा सोचना मेरी मिथ्यामति ही है।

पेयस्यामृतकल्पस्य जीवनस्यान्तिके सत।
पिपासाकुलितस्येव महामूर्खस्य सा स्थितिः ॥१०९॥

मेरी यह स्थिति, पीने के योग्य और अमृत के समान जल के पास में होते हुए भी, प्यास से व्याकुल महामूर्ख के समान ही है[1]।

[२०]

आनन्दनिर्झर भगवान्

विश्वात्मा भगवान् नूनं साक्षादानन्दनिर्झर.।
तस्यान्त. संस्थित स्वस्थ. सदानन्दो वसाम्यहम् ॥११०॥
योऽसौ सर्वजगद्रक्षाभारं वहति सर्वदा।
तस्मिन्न्यस्याखिलाश्चिन्ता. सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१११॥
योऽसौ सर्वजगत्साक्षी भगवान् पुरुषोत्तम।
तदाश्रयेण निश्चिन्त सदानन्दो वसाम्यहम् ॥११२॥
चिन्तासन्तानसंतापे खिन्नाना परमौषधम्।
आत्मविश्वासमाश्रित्य सदानन्दो वसाम्यहम् ॥११३॥

---

१. तु० "अपा मध्ये तस्थिवास तृष्णाविदज्जरितारम्" (ऋग्०

विश्वात्मा भगवान् निश्चय ही साक्षात् आनन्द के निर्झर हैं। उनके अन्दर स्थित, शान्तचित्त, मै सदा आनन्द से रहता हूँ।[1]

जो सदा सपूर्ण जगत् की रक्षा के भार को उठाये हुए है, उन्ही पर सारी चिन्ताओ को छोड कर, मै सदा आनन्द से रहता हूँ।

वे जो सारे जगत् के साक्षी भगवान् पुरुषोत्तम है, उन्ही के आश्रय से निश्चिन्त होकर, मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

चिन्ता की परम्परा के सताप से खिन्नो के लिए परम औषधरूप आत्म-विश्वास के आश्रय को पाकर, मै सदा आनन्द से रहता हूँ!

[२१]

आनन्दमय दिव्य-जीवन

इहैव जीवने आतङ्कदारिद्र्यदुर्गती.।
तिरस्कृत्य सदानन्ददिव्यजीवनमाप्नुया. ॥११४॥

देवो यो विश्वकृन्नित्यं विश्वं व्याप्यावतिष्ठते।
सान्निध्यं स्वात्मनस्तस्य साक्षात्त्वेनावधारये. ॥११५॥

तत्तद्भावप्रभावेण हर्षशोकादि जायते।
तत उद्धर्तुमात्मानं शाश्वतं भावमाश्रये ॥११६॥

कार्यकारणसूत्रेण जगदेतन्नियन्त्रितम्।
साक्षित्वभावना तत्र नि.सङ्गस्त्वं समाश्रयेः ॥११७॥

---

१. आनन्दानुभूति की तीव्र लालसा से वैदिक साहित्य ओत-प्रोत है। उदाहरणार्थ नीचे के प्रमाणो को देखिए —

यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मा धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते।• •(ऋग्वेद ९।११३।७)
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र माममृत कृधि। (ऋग्वेद ९।११३।११)

नद्याः जलप्रवाहस्य सातत्यमवलोक्यताम् ।
तत्र रोधप्रयत्नेन नात्मानमवसादये. ॥११८॥

विश्वमेतदनन्तं वै तवापेक्षा विनैव यत् ।
वर्ततेऽनिशमासक्तेस्तत्र ते किं प्रयोजनम् ॥११९॥

व्यक्तेस्तवापि व्यक्तित्वे कारणं न प्रदृश्यते ।
मा कृथा कृशमात्मानं तदर्थं चिन्तया वृथा ॥१२०॥

संयोगश्च वियोगश्च भावानामनिवार्यत ।
जीवने दृश्यते तत्र चिन्ताया किं प्रयोजनम् ॥१२१॥

अयि भाई ! तुम इसी जीवन में दुःख, दारिद्रय और दुर्गति को दूर भगाकर सतत आनन्दमय दिव्य-जीवन को प्राप्त करो ।

जो विश्व-निर्माता देव विश्व मे व्याप्त होकर अवस्थित है, उसके साथ अपने सान्निध्य को तुम साक्षात् रूप से अनुभव करो ।

जीवन मे तत्तद् भावो (=मनोविकारो) के प्रभाव से हर्ष, शोक आदि हुआ करते हैं । उस अवस्था से अपने को ऊपर उठाने के लिए तुम शाश्वत भाव रूप जो भगवान् है उनका आश्रय लो ।

कार्य-कारण-भाव के सूत्र से यह जगत् नियन्त्रित है । इस सबंध में तुम निःसङ्ग होकर (अर्थात् अनासक्त भाव से) साक्षित्व की भावना का आश्रय लो । अर्थात् विश्व की यावद् घटनाओ को तुम एक साक्षी के रूप मे, उनमें अनासक्त होते हुए, देखो ।

जरा देखो तो सही कि नदी का जल-प्रवाह सतत-रूप से बराबर जारी है । उस प्रवाह को रोकने के प्रयत्न से तुम अपने को दुःखी न करो । अर्थात् तुम उसको रोक नही सकते । इस लिए रोकने के व्यर्थ प्रयत्न से अपने को दुःखी न करो ।

यह अनन्तानन्त विश्व तुम्हारी अपेक्षा के बिना ही सदा अपने रूप मे चल रहा है । उसमे तुम यदि आसक्ति रखते हो तो वह निष्प्रयोजन ही है ।

फिर तुम्हारी व्यक्ति का जो व्यक्तित्व है उसका भी कोई कारण स्पष्ट नही दिखाई देता है । इसलिए तद्विषयक व्यर्थ चिन्तन से अपने को क्यो दुबला बनाते हो, अर्थात्, क्यो परेशान होते हो ?

भावो का संयोग और वियोग जीवन में अनिवार्य रूप से देखने मे आता है। इसलिए उनके सम्बन्ध मे चिन्ता करने से क्या लाभ है ?

[२२]

प्रगति का अनन्त मार्ग

अनन्ते प्रगतेर्मार्गे गच्छन्सोल्लासमानस‧ ।
नानाविधानि दृश्यानि पश्यन्नानन्दनिर्भर‧ ॥१२२॥

अनासक्त‧ क्वचित्, स्वीयं यात्रोद्देश्यं च संस्मरन् ।
सर्वदा सर्वथा स्वस्थ सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१२३॥

प्रगति के अनन्त पथ पर मन में उल्लास के साथ चलते हुए,
नाना प्रकार के दृश्यों को आनन्दातिशय से देखते हुए,
कही भी आसक्त न होकर, अपनी यात्रा के उद्देश्य को स्मरण मे रखते हुए, सर्वदा सब प्रकार से शान्त-चित्त, मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

[२३]

अनासक्ति से आनन्दानुभव

वाहकस्यास्य जगत‧ कालस्य महिमा महान् ।
तस्यापि साक्षिभूतोऽयमात्मेति महदद्भुतम् ॥१२४॥
दृश्यमेतज्जगत्सर्वं नानावैचित्र्यशोभितम् ।
दर्शं दर्शमनासक्तस्तदानन्दमवाप्नुहि ॥१२५॥

इस जगत् के वाहक काल की महिमा महान् है ।

यह आत्मा उस (काल) का भी साक्षी है । यह बड़ी अद्भुत बात है !

नाना प्रकार की विचित्रताओ से सुशोभित यह सारा जगत् (हमारा) दृश्य है ।

अनासक्त भाव से उसको देखते हुए तुम आनन्द का अनुभव करो !

विजितान्तरारिचमूचयाः शुभशान्तवृत्तिसदाशयाः ।
विहिताधिदेवसमाश्रया. प्रणिधानजातविनिश्चयाः ॥१३१॥
परदुःखतापकदर्थना मथितुं समाहितभावना ।
तव तन्मन.सु विरोचना द्युतिरस्ति येऽत्र तपोधनाः ॥१३२॥

जिन्होने आभ्यन्तर शत्रुओ की सेनाओ को जीत लिया है, जिनकी चित्त-वृत्तियाँ पवित्र और शान्त हैं और जो सदाशय है, जिन्हे एकमात्र भगवान् का सहारा है, जिन्होने चित्त की एकाग्रता से तात्त्विक ज्ञान को पा लिया है,

दूसरो के दु ख के तापो की पीडाओ को दूर करने के लिए जिन्होने अपनी भावनाओ को पवित्र बनाया है, उन तपोधनो के हृदयो मे आपकी शोभायमान द्युति विराजमान है ।

मुनिभिर्भवानिह चिन्त्यते व्रतिभिर्भवान् परिचीयते ।
निगमस्तथा जगदीश ! ते ह्यपवर्णनेत्यवसीयते ॥१३३॥
निजनीडसंश्रितपक्षिभिरुषसीह सायमु राविभिः ।
गुणकीर्तनं तव योगिभिः क्रियते समाहितबुद्धिभिः ॥१३४॥

मुनिजन आपकी चिन्तना करते हैं, व्रती लोग आपका परिचय प्राप्त करते हैं । हे जगदीश ! वेद भी निश्चय ही आपके गुणों का वर्णन करते हैं ।

अपने घोसलो में बैठकर प्रात और साय शब्द करने वाले पक्षियो द्वारा तथा समाहित बुद्धिवाले योगियो द्वारा आपके गुणो का कीर्तन किया जाता है ।

सगुणो भवानिह कर्मठैरपि निर्गुणः कथितः कठे ।
तव चित्रमत्र चरित्रमात्मरतैरवेक्ष्यमसंशयैः ॥१३५॥
विपिनेऽथवा गिरिगह्वरे परितो दरेऽपि मनोहरे ।
समुपह्वरे त्वयि सुन्दरे मुनयो हरे ! निरता परे ॥१३६॥

आप कर्मकाण्डियो द्वारा सगुण और उपनिषदो द्वारा निर्गुण कहे गये हैं । आपके विचित्र चरित्र को सशय से रहित आत्म-रत लोग ही देख सकते हैं ।

हे भगवन् ! चाहे घोर वन में, चाहे घर की मनोहर भित्ति में, अथवा पर्वत की गुफा में, अथवा एकान्त स्थान में मुनिजन सौन्दर्य से युक्त तथा परमधाम-स्वरूप आपके ध्यान में ही निरत रहते हैं।

यदजं ध्रुवं परिततं निगमागमैरपि संस्तुतम् ।
तव तत्स्वरूपमहं भजे शिव ! शान्तिधाम निरन्तरम् ॥१३७॥

हे शिव ! हे शान्तिधाम ! भगवन् ! मैं आपके उस स्वरूप को निरन्तर भजता हूँ, जो अजन्मा, कूटस्थ, सर्वत्र व्यापक और निगम तथा आगम द्वारा संस्तुत है।

[२५]

जीवन का परम लक्ष्य

सद्भावनाप्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरम् ।
सर्वलोकगणाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१३८॥

सद्भावना-रूपी कुसुमों से जो सुरभित और सुमनोहर है, जो समस्त लोक को आकृष्ट करने वाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

नैराश्यमन्धतमसं यत्र सर्वं निवर्तते ।
आशाप्रकाशविच्छिन्नं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१३९॥

आशा के प्रकाश से विच्छिन्न हो कर घोर अन्धकार रूपी सारा नैराश्य जहाँ से निवृत्त हो जाता है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सेवितं सततं सद्भिः सूरिभिर्गतमत्सरैः ।
सदाचारपरैः शुद्धैस्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४०॥

ईर्ष्या से रहित, सदाचार में तत्पर, पवित्रात्मा और विद्वान् सत्पुरुषों द्वारा जो सदा सेवित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सति दुःखेऽप्यनुद्विग्नमादर्शमनु निश्चितम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४१॥

दुःख के आने पर भी जो उद्विग्नता से रहित है, आदर्श के प्रति जो दृढ है और उत्तरोत्तर उत्कर्ष करने वाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सत्यानुसन्धानपरा लोककल्याणसेतवः ।
आश्रित्य यत्स्थिता धीरास् तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४२॥

सत्य के अनुसन्धान मे तत्पर और लोक के कल्याण के लिए सेतु-रूप धीर पुरुष जिस का आश्रय लेकर सदा रहते है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

विषादेनावसादेन निर्मुक्तं मुक्तसंशयम् ।
कर्त्तव्यपथमारूढं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४३॥

विषाद और अवसाद से जो रहित है, संशय जहाँ नही है और कर्तव्य के मार्ग पर जो आरूढ है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

श्रमेण तपसा नित्यं संयमेन समन्वितम् ।
विनयेनापि संजुष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४४॥

जो श्रम, तपस् और सयम से सदा समन्वित है और विनय भी जहाँ विद्यमान है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

येनेदं मधुमद् विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास् तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४५॥

जिस से विश्व का माधुर्य सम्पन्न होता है, जो स्वय निरतिशय माधुर्य से युक्त है, जो मधु-विद्या[1] का मधु है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च ।
पृथिवी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४६॥

जिसके कारण दिव्य प्रेम और स्नेह से तथा कारुण्य और आर्जव से यह पृथिवी स्वर्ग बन जाती है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

भाषासीमामतिक्रम्य स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४७॥

भाषा की सीमा का अतिक्रमण करके जो अपने रूप से ही स्थित है और जो शाश्वत तथ्य-रूप है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

---

१. तु० अथर्ववेद १।३४ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् २।५ ।

तत्तन्नामभिराख्यातं विभिन्नै साम्प्रदायिकै ।
वस्तुतस्तैरसंस्पृष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४८॥

विभिन्न सम्प्रदायों के लोग भिन्न-भिन्न नामों से जिसका निर्देश करते है, परन्तु वस्तुत जो उन नामों मे असस्पृष्ट है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

मोहेन तमसा हीनम् आनन्दरसनिर्भरम् ।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४९॥

मोह और अज्ञान से जो रहित है, आनन्द-रस से जो आप्लावित है और अलौकिक प्रकाश से जो प्रकाशित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो ।

यत्र स्थिता महात्मानस् तत्त्वमव्ययमद्वयम् ।
पश्यन्त्यलौकिकं दिव्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१५०॥

जहाँ स्थित होकर महात्मा लोग दिव्य अलौकिक शाश्वत तथा अद्वितीय परमतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

नर उवाच

जीवनज्योतिरेतद्वै लब्ध्वा भगवतः प्रभो ।
मानवीयं स्वकं जन्म धन्यं मन्येऽद्य वस्तुतः ॥१५१॥

मानवस्य समस्याना जीवने संभवन्ति या ।
कष्टप्रदा समाधानं तासामत्र प्रदर्श्यते ॥१५२॥

नूनं समस्तशास्त्राणा सता सारमिहोद्धृतम् ।
हिताय सर्वलोकाना हृदयंगमया गिरा ॥१५३॥

तदेतदमृतं पुण्यं पीत्वा पीत्वा रसायनम् ।
इहैव जीवने विद्वान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१५४॥

नर ने कहा

हे प्रभो ! इस जीवन-ज्योति को आप से पाकर मैं आज वास्तव में अपने मानवीय जन्मको धन्य मानता हूँ ।

मानव के जीवन मे जो कष्ट-प्रद समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं, उनका समाधान यहाँ दिखलाया गया है ।

इसमें समस्त सत् शास्त्रो का सार, सब लोगो के हित के लिए, हृदयगम भाषा द्वारा, उद्धृत किया गया है ।

सो इस अमृत-स्वरूप पवित्र रसायन को पी पीकर विद्वान् इसी जीवन में ब्रह्म-भाव को प्राप्त कर सकता है ।

नारायण उवाच

प्रसन्नो नितरा सौम्य ! गच्छाव स्वपदं ततः ।
विश्वकल्याणमातन्वन् वर्तेथा ब्रह्मणोऽध्वनि ॥१५५॥

श्रीनारायण ने कहा

हे सौम्य ! मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । अच्छा, अब हम दोनो अपने स्थान को चलें ! तुम्हें चाहिए कि तुम विश्वकल्याण के विस्तार द्वारा ब्रह्म के मार्ग पर चलते हुए जीवन-यात्रा करो ।

उपसंहार

तदेवं विश्वकल्याणबुद्ध्या संवादमद्भुतम् ।
कृत्वा दिव्यं स्वकं धाम नरनारायणौ गतौ ॥१५६॥

तमिमं दिव्यसंवादं बुद्ध्या वृतिगृहीतया ।
अधीयानोऽथ शृण्वन्वा श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ॥१५७॥

नैराश्यमन्धतमसं मुक्त्वाशावादमाश्रितः ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टजीवने दत्तमानसः ॥१५८॥

कर्त्तव्यभावनापूतमाश्रितः कर्मदर्शनम् ।
व्रतग्रहणपुण्यात्मा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥१५९॥
'दुःखं दुःखमिदं सर्वं' त्यक्त्वा मिथ्यामतिं मुदा ।
'कल्याणायैव न सर्व'मिति भावनया युतः ॥१६०॥
चारित्र्यबलसंपन्नः स्वस्थ आरोग्यवान् सदा ।
सर्वा बाधास्तिरस्कृत्य हेलया गतमत्सरः ॥१६१॥
अन्तःपरीक्षणे दक्ष पूतात्मा दग्धपापक ।
प्रसन्नमानसो धीमानास्थावाञ्जीवने दृढम् ॥१६२॥
आनन्दरूपमात्मानं मन्वानो मुक्तसंशयः ।
चिन्ताव्याधिविनिर्मुक्तः शाश्वतं पदमास्थितः ॥१६३॥
अकिञ्चनोऽपि दिव्यैस्तैः पदार्थैर्विश्वविस्तृतैः ।
तथा चाध्यात्मसंपत्त्या ऋद्धिमान्तुष्टमानसः ॥१६४॥
कूटस्थममृतं नित्यं यतः सर्वं प्रवर्तते ।
यत्रैव च लयं याति येन सर्वमिदं ततम् ॥१६५॥
सत्याना परमं सत्यं मूलतत्त्वं निगद्यते ।
शक्तिर्माता शिवो विष्णु सत्यमोङ्कार एव वा ॥१६६॥
'धम्मो' कर्मेश्वरो ब्रह्मेत्यादिशब्दैः कथंचन ।
शब्दसृष्टिमतिक्रान्तं यदाहु शब्दकोविदाः ॥१६७॥
श्रद्धाविश्वाससंपन्नोऽनन्ते तस्मिन् परात्मनि ।
अवसादेन निर्मुक्त सर्वभूतहिते रत ॥१६८॥
परार्थसाधने स्वार्थं पश्यन्नित्यमुदारधी ।
सर्वात्मभावनो धीरः ससिद्धि परमा गत ॥१६९॥
अध्यात्मयोगसंपन्नः स्थितप्रज्ञस्तथात्मवान् ।
जीवनस्य परं स्रोतो लब्ध्वा ब्रह्म समश्नुते ॥१७०॥
निराशातिमिराच्छन्ने प्रकाशं जीवनप्रदम् ।
वितरञ्जीवनज्योतिश् चिरं लोके प्रकाशताम् ॥१७१॥

सो इस प्रकार विश्व-कल्याण की बुद्धि से अद्भुत संवाद करके नर और नारायण अपने दिव्य धाम को चले गये।

इस दिव्य-संवाद को श्रद्धा और भक्ति से समन्वित होकर धैर्य-पूर्वक बुद्धि से पढने वाला अथवा सुनने वाला—

घोर अन्धकार-रूप नैराश्य को छोड़के आशावाद का आश्रय लेकर, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति में मन को लगाने वाला,

कर्तव्य की भावना से पवित्र कर्म-दर्शन का आश्रय लेकर, व्रत-ग्रहण से पुष्ट आत्मा वाला, जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी,

प्रसन्नता-पूर्वक 'यह सब कुछ केवल दुःख रूप है' इस मिथ्या-मति को छोडकर, 'सब-कुछ हमारे कल्याण के लिए ही है' इस भावना से युक्त,

चारित्र्य के बल से सपन्न, सदा स्वस्थ और आरोग्यवान् रहते हुए, समस्त बाधाओं को मानो खेल में तिरस्कृत करके, मत्सर से रहित,

अन्त समीक्षण (=आत्म-परीक्षण) में दक्ष, पवित्रात्मा, निष्पाप, प्रसन्न मन वाला, बुद्धिमान् और जीवन में दृढ आस्था रखने वाला,

नि सदेह रूप से आत्मा को आनन्द-स्वरूप मानता हुआ, शाश्वत पद में स्थित होकर चिन्ताकी व्याधि से विनिर्मुक्त,

लौकिक धन-धान्य की सपत्तिसे रहित होते हुए भी, विश्वमें विस्तृत तत्तद् दिव्य पदार्थों तथा अध्यात्म-सपत्ति से ऋद्धि वाला तथा सतुष्ट मन वाला,

कूटस्थ अमृत तथा नित्य जो तत्त्व है, जिससे सब की प्रवृत्ति होती है और जिसमे सब कुछ विलीन हो जाता है, जिससे यह सारा विश्व व्याप्त है, वही मूलतत्त्व सत्य पदार्थों मे परम सत्य कहा जाता है। उसको, जो शब्द-सृष्टि से परे है, शब्द-शास्त्र के विद्वान् शक्ति, माता, शिव, विष्णु, सत्य, ओकार, धर्म्म, कर्म, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि शब्दो द्वारा किसी प्रकार कहते हैं। उसी अनन्त परमात्मा मे श्रद्धा और विश्वास मे सपन्न होकर, अवसाद से जो निर्मुक्त है और सब प्राणियो के हित में रत है,

परार्थ-साधन में स्वार्थ को देखते हुए नित्य उदार बुद्धि से युक्त होकर सर्वत्र आत्मा की भावना वाला, धीर, परमसिद्धि को पहुँचने वाला,

अध्यात्म-योग से सपन्न, स्थित-प्रज्ञ और आत्मवान्, जीवनके मूलस्रोत को पाकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

निराशा के अन्धकार से आच्छादित लोक मे जीवनप्रद प्रकाश को वितरण करती हुई यह जीवन-ज्योति चिरकाल तक प्रकाशित हो!

ग्रन्थकर्ता का आशीर्वाद

तदिदं जीवनज्योति. पठन् श्रद्धासमन्वितः ।
विचारेण समं धीमान् धृत्युत्साहसमन्वित. ॥१७२॥

दु·खेष्वनुद्विग्नमना· सुखेषु विगतस्पृह· ।
कर्त्तव्यमाचरन्नित्यं लोकाना हितकाम्यया ॥१७३॥

निरस्य जीवनेऽनास्था नैराश्यं लक्ष्यहीनताम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टा प्रगतिं लभता ध्रुवम् ॥१७४॥

सो इस जीवन-ज्योति को श्रद्धा-पूर्वक धैर्य और उत्साह के साथ पढते हुए, दु खों मे अनुद्विग्न मनवाला, सुखो मे स्पृहा-रहित होकर, लोगो की हित कामना से नित्य अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, जीवन मे अनास्था नैराश्य और लक्ष्यहीनता को हटाकर, बुद्धिमान् मनुष्य निश्चय ही उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति को प्राप्त करे—ऐसा ग्रन्थकर्ता का आशीर्वाद है ।

भद्रा भवतु नो वाणी तेभ्यो ये तामधीयते ।
भद्रा उत प्रशस्तयो जागृयाम पुरोहिताः ॥१७५॥

भद्रा· सन्तु प्रशस्तयो भद्रा वाचो वचोविद. ।
जागृयाम पुरोहिता ॥१७६॥

तमसस्परि पश्यन्तो नित्यं स्वर्वयमुत्तरम् ।
अश्नुवीमहि तज्ज्योतिरुत्तमं यदनामयम् ॥१७७॥

हमारी वाणी उसको पढ़ने वालो के लिए
कल्याण-कारिणी हो !
(ग्रथ मे दी हुई) प्रशस्तियाँ (=प्रतिपादन),
कल्याण करने वाली हो ।
विश्व-कल्याण का मार्ग-प्रदर्शन करने वाले हम लोग,
अपने कर्तव्य-पालन मे सावधान और तत्पर रहें !

ग्रंथकार की प्रशस्तियाँ सुन्दर और शुद्ध सिद्ध हों ।
शब्दावली भी सबके हित-साधन में समर्थ हो ।
कल्याण-मार्ग का प्रतिपादन करने वाले हम ग्रन्थकार,
अपने कर्तव्य-पालन में सजग रहें ।
सतत उत्कृष्टतर प्रकाश के आदर्श को सामने रखते हुए,
और अज्ञानान्धकार की अवस्था से क्रमशः ऊपर उठते हुए,
हम सब उस दिव्य उत्तम प्रकाश को प्राप्त हों जो नितरां आनन्दमय है ॥

॥ इति श्रीभगवन्नारायणपरायणेन मुनिर्मेधातिथिरित्युपनामकेन विद्यामार्तण्डश्रीमङ्गलदेवशास्त्रिणोद्भासिते जीवन-ज्योतिषि प्रज्ञाप्रसादो नामान्तिमः षोडशो रश्मिः ॥
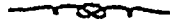
जीवन-ज्योति की रचनाओं के शीर्षकों की अकारादि क्रम से सूची

विशिष्ट विद्वानो की संमतियाँ

जीवन-ज्योति अथवा वैदिक गीताञ्जलि का केवल सस्कृत में सस्करण १९६८ में वाराणसी मे प्रकाशित हुआ था। उसी पर प्रसिद्ध विद्वानो की प्राप्त समतियाँ नीचे दी जाती हैं —

[१]

साहित्य अकादेमी, नई देहली, के अध्यक्ष, तथा भारत के राष्ट्रीय प्राध्यापक सुप्रसिद्ध विद्वान् पद्मभूषण डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी की सम्मति—

(इंग्लिश से अनूदित)

···प्रोफेसर डा० मङ्गलदेव शास्त्री हमारे बीच मे उन कतिपय वयोवृद्ध विशिष्ट संस्कृत विद्वानो मे मे है जिन्होंने अपना समस्त जीवन वैदिक तथा लौकिक संस्कृत वाङ्मय के आधार पर भाषा, साहित्य और भारतीय सस्कृति के अध्ययन, अनुशीलन, शोध और शोध के निदेशन मे तत्परता से लगा दिया है। अर्ध-शताब्दी मे अधिक समय पूर्व यूरोप में मुझे उनका सतीर्थ्य होने का गौरव प्राप्त हुआ था। तब मे ही उन्होंने प्रगाढ अनुशीलन बराबर जारी रखा है ··और अपने विषयो मे रोचक तथा विशिष्ट महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन करते रहे हैं।

उनका नवीनतम प्रकाशन है—जीवनज्योति अथवा वैदिकगीताञ्जलि। इस ग्रन्थ को परम्परागत भारतीय दार्शनिक विचारधारा के सबन्ध में उनके जीवन भर के चिन्तन का परिणाम रूप ही कहना चाहिए।

पुस्तक के साथ मे भारतवर्ष के दो वरिष्ठ वयोवृद्ध ···अग्रणी विद्वानो के अत्यन्त प्रशसात्मक लेख ग्रथ के महत्त्व को स्पष्ट करते है। वे है—पद्म-विभूषण आचार्य श्री काकासाहेब कालेलकर का शुभाशंसन और महामहोपाध्याय पद्मविभूषण डा० गोपीनाथ कविराज का प्राक्कथन।

प्राचीन-परम्परागत हृदयहारी सुभाषितो आदि की उदात्त शैली पर लिखित अपने अनुष्टुप्-प्रधान सस्कृत पद्यो की सुन्दर रचना के साथ-साथ, जीवन के प्रति ग्रन्थकार की आशावाद से समन्वित, आधुनिक युगानुसारी, युक्तियुक्त विचारधारा भी झटिति चित्त को आकृष्ट कर लेती है।······

सशयो से आकुल एव निराशा-जनक वर्तमान भारतीय वातावरण मे गम्भीर चिन्तन एव विमर्श पर आधारित, ग्रथ के आशावादी स्फूर्तिप्रद सदेश का हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं। · ···

विश्वास है कि यह कृति आधुनिक भारतीय साहित्यिक रचनाओ में, विशेषत सस्कृत भाषा में, एक वास्तविक त्रुटि की पूर्ति करेगी।

पूर्ण आशा है कि हमारा शिक्षा-प्रेमी एव विचार-क्षेत्र का उन्नायक नेतृवर्ग तथा अन्य विद्वान् पुस्तक का अत्यन्त हार्दिक स्वागत करेंगे।

सुधर्मा
कलकत्ता-२६
३।६।१६७०

[२]

प्रोफेसर डा० बाबूराम सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट्०, भूतपूर्व उपकुलपति, रविशकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, की सम्मति—

· जीवन-ज्योति मनोयोग से पढी· ···आप की रचना सर्वथा अभिनन्दनीय है। वैदिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन आपने बडे सुबोध और सरस ढंग से किया है। आस्तिक भावना की स्थापना तर्कसगत शैली मे की गई है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मार्गों का वास्तविक सामंजस्य आपने कर दिया है और मानव को आशावादी कर्मयोग की ओर प्रेरित किया है।

शताब्दियो तक भारतीय जनता निराशाके सागर में डूबकर अब निकलती हुई दिखाई देती है। पर पश्चिम के भौतिकवाद का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा है कि सामान्य भारतवासी के मन से सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदिकी भावनाएँ हटती जा रही है। भारतवासी नेतृविहीन और नेत्र-विहीन हो रहा है। उसके उद्धार के लिये क्या किया जाय!

मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक के पढने से उसे प्रकाश मिलेगा· ।

हिन्दी आदि प्रचलित भाषाओ के अनुवाद-सहित इसके सस्करण निकाले जायँ तो निश्चय ही हितकर होगे।

इलाहाबाद
२६।६।१६७०

[३]

सुप्रसिद्ध विद्वान् पद्मभूषण डा० विश्वबन्धु, शास्त्री, M. A., M. O. L. (पं०), O. d' A (फ्रा.), Kt. C. T. (इट.), डी० लिट०, आदरी संचालक, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर, की सम्मति–

· ·· यह खेद की बात है ··कि मानव, ··· नैतिक स्तर पर, मानो अभी भूतल पर, चलना भी नही सीख पाया है। निःसन्देह, उसकी इस नैतिक असमर्थता का ही यह दुष्परिणाम है कि आज भी इस भूमि का कोई भी ऐसा भाग नही जहाँ मानव-जीवन संघर्ष एवं अशान्ति से दूषित न हो रहा हो।

सचमुच अभी उस संतुलित एव समन्वित चरित्र का उदय एवं उत्तरोत्तर विकास होना शेष है, जो एकमात्र मानव-समाज के वर्तमान नैतिक अगमञ्जस का अचूक औषध बन सके।

विद्यामार्तण्ड डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री का···· 'जीवन-ज्योति' अथवा 'वैदिक गीताञ्जलि' ···ग्रंथ बहुत-कुछ उपर्युक्त प्रकार की धारणाओ की पृष्ठभूमि को लिये हुए है। यह ग्रंथ प्राञ्जल संस्कृत भाषा के · श्लोको के माध्यम से 'रश्मि' नाम के १६ खण्डो मे पूर्वसंकेतित धारणाओ को विचार-विमर्श के अति विशद प्रकाश मे लाकर बडे मनोहर ढंग से प्रस्तुत करता है। हमे पूर्ण विश्वास है कि· ·विचारशील पाठक इस ग्रन्थ-रत्न से पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे!

होशियारपुर
८।१।७१

[४]

साहित्य अकादेमी, नई देहली, की संस्कृत-प्रतिभा (६।१।१९७१) में उसके विद्वान् संपादक पद्मभूषण डाक्टर वी० राघवन कहते हैं—

संस्कृत से अनूदित)

···प्रकृत ग्रन्थ मे सुप्रसिद्ध विद्वान् ग्रन्थकार ने अध्यात्मवासनावासित अपने जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया है। दु खावेश से सन्त्रस्त लोक के प्रति अनुग्रह-बुद्धि से प्रेरित नर और नारायण के संवादरूप मे इस सस्कृत-पद्यात्मक ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।

विषयावतरण के साथ-साथ प्रतिपाद्य विषय का समुचित निरूपण ग्रन्थकर्ता कवि की कल्पना-शक्ति तथा मनोभावो की उदात्तता का प्रदर्शन करता है। संसार का स्वरूप दु खमय, निराशामय अथवा सृष्टि के मूलतत्त्व का केवल माया-रूप न होकर, वास्तव में आशामय,

प्रसादमय और आनन्दमय है, किन्तु व्रत, चारित्र्य, सन्नीति और भावसंशुद्धि आदि साधनों द्वारा अन्तर्यामी जगदीश्वर की प्रसन्नता के लिए तथा···इसी लोक मे जीवन्मुक्ति के अनुभव के लिए किस प्रकार मानव को यत्न करना चाहिए ? १६ रश्मियो में कवि ने इन ही विषयो का मनोहर पद्धति से प्रतिपादन किया है। प्रत्येक रचना के प्रारम्भ मे सूत्ररूप मे उसका शीर्षक तथा तत्प्रतिपादक वैदिक उद्धरण भी दिया गया है।

भावगर्भित शैली से प्रतिपादित विषय चिन्तन को प्रेरणा देनेवाले हैं। निस्सन्देह ग्रन्थ सुतरा श्लाघनीय है।

[५]

हिन्दी अनुवाद के सहित ग्रन्थ के प्रकृत संस्करण पर

प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, एम्० ए० (हिन्दी, सस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा सस्कृति), बी० टी०,ए ल् एल्० बी०, साहित्याचार्य, की सम्मति—

डॉ० मगलदेव शास्त्री हमारे देश के सस्कृत के सुविख्यात दिग्गज विद्वान् हैं। जिस प्रकार प्राचीन आचार्यगण पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थो के अतिरिक्त लोककल्याणकारी ग्रन्थो का भी प्रणयन करते थे, उसी प्रकार शास्त्रीजी ने इस युग के दीन, कुण्ठाग्रस्त, निराश, खिन्न, आत्महीनताग्रस्त और पीडित मानव-समाज के कल्याण के लिए 'जीवन-ज्योति' नाम का यह प्रकाशस्तम्भ-स्वरूप ग्रन्थ रचकर प्रस्तुत किया है। इसमें ग्रन्थकार महोदय ने वेद-शास्त्र-प्रतिपादित उद्धरणो और उक्तियो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य को निराशा-वादिता छोडकर आशावाद का पन्थ ग्रहण करके, चारित्र्य और स्वास्थ्य-सपत्ति अर्जित करके, सब (आन्तरिक तथा बाह्य) सघर्षों से युद्ध करते हुए, मन-प्रसाद-पुरस्सर वास्तविक नैतिकता का अनुसरण करते हुए, अध्यात्म पर आधारित कर्म-पथ पर अग्रसर होते रहना चाहिए। यही जीवन का सच्चा पुरुषार्थ है। ग्रन्थकार महोदय ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक क्रम तथा सरल ढग से मानव-जीवन की महत्ता और उसके उत्तरोत्तर उत्कर्ष के आदर्श का अत्यन्त सरस विवेचन इस ग्रन्थ में किया है।

मुझे विश्वास है इस युग की सम्पूर्ण मानवता को इस ग्रन्थ से अपार बल, अप्रतिम शाति और अपूर्व प्रकाश मिलेगा।

उत्तर बेनिया बाग, वाराणसी
८-११-७१

सीताराम चतुर्वेदी